# गीतोपदेश

('गीतारवाणी' का हिन्दी अनुवाद)



मूल लेखक

**श्रीअनिल वरण राय**

श्री गीता-समिति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१९४८

हिन्दू यूनिवर्सिटी बुकडिपो
से प्राप्य

मूल्य ३)



मुद्रक—
राम कृष्ण दास
काशी विश्वविद्यालय प्रेस, बना

# सूचीपत्र

# वक्तव्य

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की श्रीगीता-समिति का एक उद्देश्य गीता-साहित्य का प्रकाशन भी है। उसी निमित्त समिति का यह दूसरा प्रयास है। पहिली पुस्तक अंग्रेजी में डाक्तर राधाकृष्णन् की प्रकाशित हो चुकी है। हिन्दी में 'गीतोपदेश' गीता-प्रेमियों के हाथ में है। आशा है पुस्तक की उपादेयता मान्य होगी।

मूल पुस्तक बङ्गला में 'गीतारवाणी' है, जिसके लेखक हैं ख्यातनामा श्रीअनिल वरण राय। और उसका प्रकाशन हुआ है कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा। अनुवाद की अनुमति लेखक महोदय और उक्त विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर एवं सिन्डिकेट ने सहर्ष प्रदान की। तदर्थ श्रीगीता-समिति कृतज्ञ है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१९४८

जीवनशङ्कर याज्ञिक
मन्त्री श्रीगीता-समिति।

# भूमिका

जगत् के लिए आज सबसे आवश्यक वस्तु एक ऐसा दर्शनशास्त्र है जिसको अपने समग्र जीवन की भित्ति बनाकर, कुरुक्षेत्र में अर्जुन की नाईं, मनुष्य उत्साहपूर्वक जीवन के कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो सके। मनुष्य बुद्धिजीवी है। उसकी जैसी चिन्ता वा भावना होती है वैसा ही उसका जीवन गठित हो जाता है। इसी कारण मानव-जाति और मानव-समाज पर दर्शनशास्त्र का इतना अधिक प्रभाव है। जिस फरासीसी विप्लव ने यूरोप और साथ ही समग्र जगत् के समाज और राष्ट्रीय जीवन में युगान्तर उपस्थित कर दिया है उसके मूल में वोल्टेयर और रूसो आदि फरासीसी दार्शनिकों की विचारधारा ही है। प्राचीन युग में भारतीय जीवन के मूल-सूत्र वेद और उपनिषद् के दार्शनिक तत्त्वों से प्रसूत थे; और आज भी हिन्दुओं का जीवन मूलतः उन्हीं तत्त्वों द्वारा नियन्त्रित है। आधुनिक युग में पाश्चात्य जगत् की सभ्यता का जो रूप हम देखते हैं उसका मूल दार्शनिक जड़वाद है। इस जड़वाद का परिणाम देखकर उसके प्रति लोग वीतश्रद्ध

हो गए है। अथ च क्रिस्तान धर्म में जो अध्यात्मवाद है उस पर भी लोगों की आस्था नहीं रही*।

मनुष्य को आज कोई ऐसा व्यापक आदर्श, सुस्पष्ट धर्म नहीं मिलता जिसके आधार पर वह निश्चित भाव से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। वर्तमान युग में मानव-जीवन आत्मविरोधी और द्वन्द्वपूर्ण हो गया है। मनुष्य चाहता तो सुख-शान्ति है परन्तु उसका आचरण सुख-शान्ति के मूल में कुठाराघात करता है। मानव-जीवन को समृद्ध और सर्वांग-सम्पन्न बनाने के लिए वर्तमान काल में विज्ञान द्वारा जो साधन प्राप्त हुए हैं वे बड़े चमत्कप्रद हैं,

* "The tree is known by its fruits. The fruits of materialism, of anthropomorphic religion, of the separation of ideals and of means, are under our eyes to-day and their bitter and unwholesome taste in our mouths. All that we are is the result of what we have thought. We must grasp our ideals consciously and intelligently and pursue them only by means which are themselves compatible with the ideal. It is this combination of intense intellectual effort, intense preoccupation with ultimate truth, and intense emotional and artistic sincerity which is the world's first need today."—Honor Croome commenting on Aldous Huxley's new book, *Ends and Means.*

और विज्ञान की तीव्र गति से उन्नति करने में पूर्ण साधक हैं। यदि मानव-जाति अपने व्यापार को यथासंगत भाव से, सुव्यवस्थित रीति से, चला सके तो केवल कुछ व्यक्ति या श्रेणियों का ही नहीं बल्कि पृथ्वी के समस्त नर नारियों का जीवन स्वस्थ, सम्पन्न, सौन्दर्यमय और सुखी हो जाय। किन्तु ऐसी सुव्यवस्था का कोई सूत्र विज्ञान से नहीं मिलता। इसके लिए चाहिए मानव-हृदय और मानव-प्रकृति का आमूल परिवर्तन ; और यह परम अध्यात्म-तत्त्व के ज्ञान द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। गीता में ऐसे ज्ञान का अनुसन्धान मिलता है—

*परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।*
*यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४।१॥*

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "सकल ज्ञानों से श्रेष्ठ ज्ञान मैं तुमको फिर बताता हूँ जिसको जानकर मुनिगण इस दुःख द्वन्द्वमय जीवन को अतिक्रम करके परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।"

जिस विज्ञान के बल से बेतार से संवाद पाकर तूफानी समुद्र के मध्य संकटापन्न जहाज की सहायता के लिए एकदम दौड़कर देशविदेश के अन्य जहाज उसकी रक्षा के लिए पहुँच जाते हैं और अपना जीवन जोखिम में डालकर दूसरों को बचाने की चेष्टा करते हैं, और मनुष्य इस प्रकार अपने में अन्तर्हित देवत्व-भाव का परिचय देते हैं, परन्तु उसी

विज्ञान के बल से मनुष्य आकाश से प्रचंड बम-वर्षा कर सैंकड़ों असहाय शिशु, नारी और रोगियों की नृशंस भाव से हत्या करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का आसुरी भाव अभी तक विलुप्त नहीं हुआ। मनुष्य के रोग-निवारण के लिए विज्ञान ने अनेक आविष्कार किए हैं और साथ ही ऐसे मारक अस्त्र और विषबाष्प का भी आविष्कार किया है जो एक क्षण में समृद्धिशाली नगर का विध्वंस कर उसे श्मशान बना डालते हैं। एक हाथ से मनुष्य जिसकी सृष्टि करता है दूसरे हाथ से उसी का नाश करता है। इस प्रकार मानव-जीवन एक दारुण दुःस्वप्न या पागल का उद्दाम नृत्य हो गया है*। अपने जीवन के प्रकृत लक्ष्य को मनुष्य अभी स्थिर नहीं कर पाया और इसी से परस्पर विरोधी लक्ष्य और वासनाओं के पीछे दौड़ता हुआ वह गंभीर मार्ग में भटक रहा है। इसी कारण आज सर्वापेक्षा एक ऐसे दर्शन-शास्त्र की आवश्यकता है जो मनुष्य को जगत् से उसका सत्य सम्बन्ध समझा सके और बता दे कि मनुष्य क्या है, जगत् में उसका स्थान क्या है और उसके जीवन की गति और प्रकृत लक्ष्य क्या होने चाहिए। ऐसे शास्त्र के समग्र ज्ञान से मनुष्य की समस्त जानकारी और अनुभव का समन्वय हो जाय तथा वह अपने हृदय-प्राण से उसको ग्रहण करे और उसके आश्रय से इस

---

* "The present life of the world is a very bad dream and a mad one at that."—Sri Aurobindo.

मृत्युलोक में एक अपूर्व और आश्चर्यमय सिद्धि की ओर अग्रसर हो सके। तभी पद पद पर क्रम-प्रगतिशील विज्ञान वा अज्ञान की ठोकरों से मनुष्य बच सकेगा।

ऐसे दार्शनिक समन्वय की आवश्यकता केवल वर्तमान युग में ही नहीं प्रतीत होती, युग युग में अनेक बार ऐसा समन्वय हो चुका है और मनुष्य को अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में और उसके विकास में सहायक हुआ है। ग्रीस की दार्शनिक चिन्ताधारा में यूरोप में प्रथम ऐसा समन्वय हुआ था और फिर मध्य युग में कैथलिक धर्म ने समन्वय किया था। भारत के प्राचीन ऋषिगणों को आध्यात्मिक साधना के द्वारा बाह्य जगत् के पीछे जिस देव-जगत् का पता लगा था उसी का वर्णन वेद ने अपने समयोचित भाव और भाषा में किया है। और वही भारतीय जीवन और समाज तथा भारतीय सभ्यता की आध्यात्मिक भित्ति है। प्राचीन ऋषिगणों के इस चरम अध्यात्म का ग्रहण कर और उसको भित्ति बनाकर उपनिषद् आगे बढ़े और अध्यात्म-ज्ञान का गंभीर और उच्च समन्वय किया। भारत के एक अति समृद्ध अध्यात्म युग में जो सकल सत्य दृष्ट और उपलब्ध हुआ था उस सबका संग्रह कर उपनिषद् ने उसमें एक महान् सामंजस्य कर दिखाया है। कालक्रम से उपनिषदों में से और बहुत से मत, बहुत से दर्शनशास्त्र पैदा हो गए और अनेक मुनियों के नाना मतों से मनुष्य चक्कर में

पड़ गया। इन सबका अन्त में समाधान गीता में हुआ।
वर्तमान समय में जो नूतन दार्शनिक समन्वय मनुष्य-जीवन के लिए अत्यावश्यक मालूम होता है उसकी प्रशस्त भित्ति गीता में ही है जिसमें भारतीय दार्शनिक चिन्ताधारा का अपूर्व समन्वय मौजूद है।

वर्तमान युग में धर्म के विरुद्ध जो मनोभाव सर्वत्र देखा जाता है उससे हमारे देश के बहुत से शिक्षित व्यक्ति भी प्रभावित हो गए हैं। उसकी उत्पत्ति हुई है पाश्चात्य देशों से। पाश्चात्य देशों में क्रिस्तान धर्म प्रचलित है और इस पर से प्रधानतः दो कारणों से लोगों की श्रद्धा चली गई है। प्रथमतः धर्म के नाम पर पाश्चात्य देशों में जो नृशंस अत्याचार मनुष्य पर हुआ है वह भारतवासियों के लिए कल्पनातीत है। १५७२ ई० में फ्रांस देश में जब दश सहस्र प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों की धर्म के नाम पर बड़ी निष्ठुरता से हत्या की गई थी तो उस पर रोम के पोप और यूरोप के धर्म-प्राण कैथलिक लोगों ने बड़ा हर्ष प्रकाश किया था। अपधर्म* दमन करने के लिए जो धार्मिक अदालतों† की व्यवस्था की थी उसके द्वारा समग्र यूरोप में कितने लोग जीते जी जला दिए गए थे इसकी गणना नहीं है। एक स्पेन में ही तीस हजार व्यक्तियों की इस प्रकार हत्या की गई थी। उनके अपधर्म के कारण जो अनन्त काल तक नरक में दग्ध होना

* Heresy. † Inquisition.

पड़ता उस नरक से रक्षा करने के लिए ही उनको जीते जी जलाया गया था। क्रिस्तान धर्म के नेताओं की यही युक्ति थी। क्रिस्तान धर्म ने सदा धर्म, दर्शन, विज्ञान की स्वाधीन चिन्ता और स्वाधीन गवेषणा का बलपूर्वक दमन किया है। इटली का विख्यात दार्शनिक ब्रूनों धार्मिक अदालत द्वारा सात वर्ष तक कारागार में बन्द रखा गया और अन्त में जीते जी जला दिया गया था। वैज्ञानिक सार्वेट्स जेनेवा में जीता जलाया गया था। सूर्य जगत् का केन्द्र है, ऐसी बात कहने का दुःसाहस करने पर गेलिलियो को आजीवन देश से निर्वासित रहना पड़ा था। समाज और राजनीतिक क्षेत्र में भी चर्च को निर्वासन का अधिकार रहा है। स्पेन का राजतन्त्र और रूस के जार द्वारा जो प्रजा के ऊपर अत्याचार हुआ उसमें चर्च ही सहायक था। सौ वर्ष पहले जर्मनी में जब सड़क पर पहले पहल गैस की रोशनी की गई थी तो पादरियों ने उसका घोर विरोध किया था क्योंकि रात्रि को दिन बना डालना भगवान् के विधान में विरोध के समान है। आज भी क्रिस्तान चर्च का ऐसे विरोध और आपत्ति का मनोभाव दूर नहीं हुआ है।

धर्म के नाम पर इन सब अनाचारों और अत्याचारों के कारण आधुनिक मनुष्य का मन बिल्कुल खट्टा हो गया है और दूसरी ओर जड़ विज्ञान के आविष्कारों ने क्रिस्तान धर्म का मूलोच्छेद कर डाला है। इंगलिस्तान के एक श्रेष्ठ मनीषी ज्यूलियस

हक्सले ने अपनी नव प्रकाशित पुस्तक, 'रिलिजन विदाउट रेविलेशन'* में दिखाया है कि क्रिस्तानों के व्यक्तिक भगवान् के साथ वैज्ञानिक आविष्कारों का सामंजस्य नहीं हो सकता। और वर्तमान पाश्चात्य देशों में लोगों का ऐसा ही मनोभाव और विश्वास भी है। विज्ञान से सामंजस्य कर बर्गसाँ आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने जो भगवान् सम्बन्धी कल्पना की है उससे भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं हैं और न वे जगत् के ऊपर किसी लोक में स्थित हैं, वे तो इस जगत्-रूप से ही अभिव्यक्त हुए हैं, और संसार के सकल दुःख द्वन्द्व, शुभ-अशुभ और सकल जीव और मनुष्य के भीतर रहकर अपने को क्रमशः चेतनतर और पूर्णतर अवस्था में उठा रहे हैं†। किन्तु भगवान् की इस प्रकार कल्पना करके धर्म नहीं चल सकता। इसी से लोग धर्म को जीवन में से निकाल देना चाहते हैं। साथ ही पाश्चात्य देशों में एक मनोभाव और भी देखा जाता है और वह है नास्तिकता

---

**Religion without Revelation*

† "Philosophy leads us not to the conception of a perfect God existing apart from what is very clearly an imperfect universe but of a continuously living and acting God manifested in progressive creation of what we recognise as higher"

—*The Philosophical Basis of Biology*
by J. S. Haldane.

के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया। यह देखकर कि जड़वाद और नास्तिकता जगत् को नाश की ओर ले जा रहे हैं बहुत लोगों के मन में यह बात बैठ गई है कि धर्म और आध्यात्मिकता के बिना मनुष्य का कल्याण नहीं है। कोई कोई भगवान् को छोड़कर ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा चाहते हैं जिसमें भगवान् की जगह मनुष्य का उपास्य देवता मनुष्य ही होगा। इस मत का नाम ह्यूमेनिज़्म* है। पाश्चात्य देश में अनेक लोग आजकल इसी कारण बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हो गए हैं। नैतिक दृष्टि से बौद्ध-धर्म बहुत ही उच्च और उदार है, अतएव उन में भगवान्-सम्बन्धी कोई कल्पना न होने से आधुनिक विज्ञान से बौद्ध-धर्म का कोई विरोध भी नहीं हो सकता।

किन्तु व्यक्तिक भगवान्† के लिए, मनुष्य के हृदय में गंभीरतम आकांक्षा रहती है। अतएव भगवान् को छोड़कर यदि कोई धर्म होगा तो उससे अधिक लोग आकृष्ट नहीं हो सकेंगे। बुद्ध ने भी भगवान् का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया। भगवान् अचिन्त्य और अनिर्देश्य हैं; मनुष्य अपने मन, बुद्धि, युक्ति और तर्क द्वारा उनको नहीं पा सकता। अतएव मनुष्य भगवान् के बारे मे व्यर्थ तर्क न करे, इसी विचार से बुद्ध भगवत्-चर्चा में मौन रहे और उन्होंने जिसके द्वारा मनुष्य ज्ञान और शान्ति प्राप्त कर सके उसी साधन पर जोर दिया। बौद्धगण भी अन्त

* Humanism. † Personal God.

६

तक बुद्ध की ही भगवान् की तरह उपासना कर मानव-हृदय की चिरन्तन क्षुधा को तृप्त करते रहे। रूस के कम्यूनिष्टों ने धर्म के नाम को ही उड़ा दिया है किन्तु भगवान् की जगह जिस भाव से उन्होंने भी लेनिन की पूजा चलाई है वह प्राचीन धर्म-वृत्ति का रूपान्तर मात्र है। मनुष्य की इस चिरन्तन हृदय-वृत्ति का विचार कर गीता ने परम पुरुष पुरुषोत्तम की उपासना का प्रचार किया है। गीता भी स्वीकार करती है कि भगवान् अपनी श्रेष्ठ सत्ता में अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य हैं--

*न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।*

किन्तु वे ही ऐसा दूसरा रूप धारण करके आते हैं जिसको मनुष्य ग्रहण कर सके और उसके साथ सकल प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उन्हीं के भाव और प्रकृति को प्राप्त कर सके---'*मम साधर्म्यमागताः*'। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक लोग जैसा मानते हैं कि भगवान् जगत् के बीच में अनुस्यूत वा ओत प्रोत हैं और जगत् के विकास के साथ साथ उनका भी विकास होता है* वही बात गीता को स्वीकार है–

* "God thus defined has nothing of the ready made. He is unceasing life, action, freedom-Creation, so conceived, is not a mystery; we experience it in ourselves when we act freely, when we consciously choose our actions and plot our lives"—*Greative Evolution* by Henri Bergson.

*पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।*

*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥१३।२१॥*

पुरुष ने अपने को प्रकृति के साथ एक कर दिया है प्रकृति के कर्म द्वारा अपना कर्म करता है और प्रकृति के विकास में ही वह विकसित होता है। मनुष्य के सकल दुःख-सुख, आशा-आकांक्षा, द्वन्द्व-मिलन के भीतर पुरुष आत्मप्रकाश करता है। किन्तु गीता के मत से यह पुरुष का और भगवान् का एक भाव मात्र* अर्थात् क्षरभाव है। और दूसरा भाव है, जिसमें पुरुष प्रकृति की लीला से मुक्त रहकर उपद्रष्टा अनु-मन्ता है। प्रकृति के परिवर्तन से उसमें परिवर्तन नहीं होता और वह है कूटस्थ, अटल, अचल, ध्रुव, अक्षर पुरुष और यही दोनों भाव—क्षर और अक्षर, सक्रिय और निष्क्रिय, परिणामी और अपरिणामी—एक ही साथ जिसमें स्थान पाते हैं वही पुरु-षोत्तम है। उसी की परा प्रकृति जीव-रूप से आविर्भूत होकर इस जगत्-प्रपंच को धारण करती है, विवर्तित होती है। किन्तु यह विशाल जगत् उसकी शक्ति का कण मात्र है, वह उससे बहुत ऊँचा है और इस जगत् को अपने एक क्षुद्र अंश द्वारा धारण किए हुए है—

*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥१०।४२॥*

अतएव हम देखते हैं कि विज्ञान और दर्शन भिन्न दृष्टि

* Aspect.

और भाव से भगवान् के जिस रूप की कल्पना करते हैं—व्यक्तिक ईश्वर, विश्वगत निर्व्यक्तिक सत्ता, विश्वातीत परम अनिर्वचनीय सत्ता—इन सबका अपूर्व समन्वय गीता के पुरुषोत्तम तत्त्व में हुआ है। भगवान् को इस प्रकार समग्र भाव से जानकर और उनके प्रति सम्पूर्ण भाव से आत्मसमर्पण कर मनुष्य अपने मनुषत्व को पूर्ण कर जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

धर्म के नाम पर जैसा नृशंस अत्याचार यूरोप में हुआ वैसा भारतवर्ष में कभी नहीं हुआ, और भारत में धर्म कभी दर्शन, विज्ञान वा स्वाधीन चिन्ता से अलग नहीं हुआ। भारत में निरीश्वरवादी सांख्य को भी उच्चतम स्थान दिया गया है, निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म भी इसी भारत के वातावरण में उन्नतिशील हुआ। भिन्न भिन्न मनुष्य की भिन्न भिन्न प्रकृति है और उनके प्रयोजन भी भिन्न हैं। जिस जिस भाव से भगवान् की उपासना करना चाहें कर सकते हैं। जिस भाव से किसी की उपासना करनी हो वैसा ही सुयोग दिया जाता है। यदि कोई भगवान् के अस्तित्व को अस्वीकार कर इस ऐहिक जीवन के सुख-भोग को ही परमार्थ समझ ले तो उसको भी वैसा सुयोग प्राप्त है। भारत में चार्वाक दर्शन का ऐसा मत प्रचलित हुआ था। गीता में भगवान् कहते हैं—

*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।*
*मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ४।११॥*

"हे पार्थ, जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं मैं उसी भाव से उनका भजन करता हूँ। मनुष्यगण सर्व प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं— 'जितने मत उतने पथ।' वस्तुतः गीता के मत में भी 'जितने मनुष्य उतने पथ हैं।' गीता के इसी श्लोक को लक्ष्य कर बंकिमचन्द्र ने कहा है—"यही प्रकृत हिन्दू धर्म है। हिन्दू धर्म के समान उदार धर्म दूसरा नहीं है और इस श्लोक के समान कोई दूसरा महावाक्य भी नहीं है।"

भारत में दर्शन, विज्ञान, समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति ये सभी धर्म के अन्तर्गत हैं और उससे प्रभावित हैं। भारतवासी का समस्त जीवन ही धर्ममय है वा भगवान् के लिए यज्ञरूप है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नाना शाखाएँ और सम्प्रदाय हैं और उनके प्रत्येक के हैं तीन अंग। प्रथम है बाह्य आचार-अनुष्ठान। साधारण मनुष्य बहिर्मुख है। इन सकल आचारों के अनुष्ठान द्वारा वह क्रमशः अन्तर्मुख हो जाता है। बाहर जो होम की अग्नि है वह हृदय में भगवत्-आकांक्षारूप उर्ध्वमुखी ज्वलन्त शिखा की प्रतीक है; देवता के लिए धूप, दीप, नैवेद्य अर्पित करते करते मनुष्य समग्र जीवन को ही भगवान् के लिए यज्ञरूप से अर्पित करने की शिक्षा प्राप्त करता है। ये सब आचार-अनुष्ठान अनेक बार अर्थहीन, युक्तिहीन मालूम होते हैं। किन्तु केवल मन, बुद्धि, युक्ति और तर्क से ही मनुष्यत्व

नहीं होता। मनुष्य के तो देह, प्राण और हृदय हैं। इन सबके ऊपर अध्यात्म का प्रभाव डालकर क्रमशः इनका रूपान्तर करना होगा। मानव-जीवन के विकास के समस्त प्रयोजनों को लक्ष्य कर हिन्दू धर्म में नाना आचार का अनुष्ठान विहित है, और इन सकल आचार-अनुष्ठान का साधारण लक्षण है शुचिता, सौन्दर्य और प्रतीकता। भारत का साहित्य, मत और मन्दिर तथा धर्म-सम्बन्धी आचार-अनुष्ठान—ये सब इस बात को प्रत्यक्ष बताते हैं कि उपासना में सौन्दर्य का भाव रखकर चिरसुन्दर भगवान् की ओर किस प्रकार अग्रसर होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि इस धर्म की भित्ति दार्शनिक है। ईश्वर क्या है, जीव क्या है, जगत् क्या है, ईश्वर के साथ जीव और जगत् का क्या सम्बन्ध है, जीव की श्रेष्ठ गति क्या है, मानव-जीवन की पूर्णतम सिद्धि और सार्थकता किसमें है—इन सब विषयों में हिन्दुस्थान के सब धर्म न्यायसंगत युक्ति पर प्रतिष्ठित हैं। वर्तमान विज्ञान ने युक्ति और गवेषणा के बल पर जीव और जगत् के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त की है उसका हिन्दू दर्शन-शास्त्र से विरोध नहीं हैं। दृष्टान्त-रूप से विकास-वाद* की बात ली जा सकती है। जड़ प्रकृति से किस प्रकार क्रमशः प्राणि-जगत् का आविर्भाव हुआ है, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक गवेषणा से क्रिस्तान धर्म आदि के मूल में आघात

---

* Evolution.

हुआ है। किन्तु जिस बात को विकासवाद के आधुनिक विज्ञान ने अति अस्पष्ट भाव से समझने की चेष्टा की है उसको उपनिषद् के ऋषिगणों ने बहुत पहले ही स्पष्ट भाव से बता दिया है।

तीसरी बात यह है कि हिन्दुस्थान के प्रत्येक सम्पूर्ण धर्म में एक निगूढ़ अंश है, अध्यात्म वा योगसाधना। आचार-अनुष्ठान और दार्शनिक विचार के द्वारा जिनके प्राण, मन, हृदय की यथेष्ट पुष्टि और विकास हुआ है और जिन्होंने अध्यात्म जीवन की योग्यता प्राप्त की है उन्हीं के लिए यह रहस्यमयी साधना बताई गई है। इस साधना के द्वारा चेतना का रूपान्तर किया जाता है, मानव-चैतन्य से उठकर मनुष्य भगवत्-चैतन्य में प्रतिष्ठित होता है। पाश्चात्य दर्शनों की तरह हिन्दू दर्शन केवल बुद्धि-वृत्ति को ही चरितार्थ करने के लिए जीव, जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी आलोचना नहीं करता। हिन्दू धर्म तो ऐसी बात की निगूढ़ शिक्षा देता है कि जिससे मानव इन सकल तत्त्वों का अवलम्बन कर साधना के द्वारा अपने जीवन का रूपान्तर करते हुए मुक्ति वा दिव्य अध्यात्म-जीवन प्राप्त कर सके। अतएव इस धर्म की भित्ति अत्यन्त सुदृढ़ है। सरसरी निगाह से हिन्दू धर्म का जो अंश युक्तिहीन वा कुसंस्कारी जान पड़ता है, यदि गम्भीरता से विचार करें तो उसकी सार्थकता और उपयोगिता का पता चलता है। इसीलिए हजारों वर्ष से बड़ी बड़ी व्याधि और विपत्तियों को पार कर

आज भी हिन्दू धर्म जीवित है और वर्तमान वैज्ञानिक युग के सकल संशयों को जीत कर मानव-समाज और जाति को कल्याणपथ दिखाने में सदा अग्रसर है।

हिन्दू धर्म में भी समय समय पर ग्लानि आ गई। धर्म के मूल सत्य को छोड़कर मनुष्य बाह्य आचार-अनुष्ठान को सब कुछ मानकर यह समझने लगता है कि यही सब कुछ है और सब निस्सार है—*नान्यदस्तीतिवादिनः*। किन्तु युग युग में जब जब इस प्रकार धर्म की ग्लानि हुई है तब तब उस को दूर करने के लिए, और मनुष्य को सत्य धर्म के पथ पर पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए, साधु सन्त महाजन का अभाव इस पुण्य भारत-भूमि में कभी नहीं हुआ है। यह तो नहीं कह सकते कि भारत के सब लोग धार्मिक वा अधार्मिक हो गए। सभी देशों के अधिकांश मनुष्य बहिर्मुख और संसार-परायण होते है। भारत इस बात का कोई अपवाद नहीं, किन्तु यहाँ की प्राचीन सभ्यता मूलतः आध्यात्मिक रही है और उसने ऐसा वातावरण बना दिया है और भारतवासियों के हृदय और मन ऐसे संस्कारी हो गए हैं कि वे सहज ही आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। यहाँ पर अध्यात्म-साधना जितनी सहज और सुफल है वैसी जगत् में और कहीं नहीं है। बौद्ध धर्म के कठिन दार्शनिक तत्त्वों को निम्नतम श्रेणी के भारतवासियों ने जिस प्रकार हृदयंगम कर लिया था वह और देशों के लोगों के लिए सम्भव

नहीं। वेदान्त की महती शिक्षा भारतवासी आपामर जन साधारण के लिए सभी मज्जागत हो गई है, यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं। अतएव ऐसी आशा करने में कोई अन्याय नहीं है कि जगत् में एक नूतन आध्यात्मिक समन्वय और आध्यात्मिक अभ्युत्थान की जो आवश्यकता प्रतीत होने लगी है उस के लिए पुण्यभूमि भारतवर्ष को ही नेता बनना होगा। पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा का मूल स्रोत ग्रीक दर्शन है जो अवश्य ही भारतीय दर्शन द्वारा प्रभावित था। इस बात में सन्देह को कोई स्थान नहीं। हाल में एक विख्यात योरपीय वैज्ञानिक ने यह मत-प्रकाश किया है कि केवल दार्शनिक विचार ही नहीं परन्तु आधुनिक नवीनतम विज्ञान की मूलधारा का स्रोत प्लेटो (Plato) में मिलता है। ग्रीस देश की किंवदन्ती है कि अन्य ग्रीस दार्शनिकों की तरह प्लेटो भी भारतवर्ष में आया था और उसने गङ्गा-तीर पर ब्राह्मण का शिष्यत्व ग्रहण किया था। प्लेटो के दार्शनिक ग्रन्थों की भाषा से कई स्थानों पर उपनिषदों से सादृश्य देखकर मोक्षमूलर ने अनुमान किया है कि भारतीय दर्शनों का प्लेटो को अच्छा परिचय प्राप्त था। दृष्टान्त रूप से कहा जा सकता है कि उपनिषद् में जीव को रथी और इन्द्रियसमूह को अश्वरूप से वर्णन किया गया है (कठोपनिषत् १।३।३-४)। प्लेटो ने अपने फेड्रस (Phaedrus) नामक ग्रन्थ में बिल्कुल इसी उपमा का प्रयोग किया है। अध्यापक अर्विक (E. T. Urwick)

ने प्रतिपादन किया है कि प्लेटो ने अपने विख्यात ग्रन्थ रिपबलिक (Republic) में जिस मतवाद का स्थापन किया है वह भारतीय मतवाद की प्रतिध्वनि मात्र है। अध्यापक विन्टरनिज अपने विश्वसाहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ में लिखते हैं, "गार्बे का अनुमान है कि हेराक्लीटस (Heraclitus), एम्पीडोक्लीज (Empedocles), एनेग्जागोरस (Anaxagoras), डिमोक्रीटस (Democritus) और एपीक्योरस (Epicurus) आदि का दार्शनिक मतवाद भारतीय सांख्य दर्शन द्वारा प्रभावित हुआ था। पीथागोरस सांख्य दर्शन द्वारा प्रभावित हुआ था इस में कोई सन्देह नहीं है। और नॉस्टिक (Gnostic) एवं नियो-प्लेटोनिक (Neo-Platonic) दर्शन तो भारतीय दर्शन द्वारा विशेष रूप से प्रभावित हुए थे यह निश्चित है"। प्राचीन पारसी जाति का ग्रीस के साथ जैसे व्यापार चलता था वैसे ही विचारों का भी आदान-प्रदान। भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों का विचारस्रोत पारसियों में पहुँचा और उनके द्वारा उसका ग्रीस में प्रवेश हुआ होगा ऐसी सम्भावना जान पड़ती है।

पाश्चात्य देश के दो आधुनिक श्रेष्ठ मनीषी हैं नीट्शे और बर्गसाँ। नीट्शे के मूलमत अतिमानववाद के अनुसार मनुष्य को अपना मानवत्व छोड़ कर एक नूतन उच्चतर जीवन प्राप्त करना होगा। और उसने यह भी कहा है कि सिकन्दर, नेपोलियन आदि असाधारण मनुष्य उसके अतिमानव के आदर्श

नहीं हैं। मनुष्य जिस प्रकार बन्दर की अपेक्षा बड़ा है अति-मानव भी उसी प्रकार मनुष्य की अपेक्षा बड़ा होगा। वह एक नई जाति (Species*) होगी।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मूलतः यह शिक्षा दी थी कि वर्तमान मनुष्य के देह, प्राण, मन, बुद्धि, जीवन में जो तीन सत्त्वादि गुणों का खेल हो रहा है अर्थात् अज्ञानमय जीवन को इन तीनों गुणों से ऊपर उठ कर एक महत्तर भगवत्-चैतन्य में प्रतिष्ठित होना होगा, '*निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*''। किन्तु इस अतिमानवत्व का प्रकृत स्वरूप क्या है और उसको किस तरह से प्राप्त किया जायगा इस बात को नीट्शे नहीं समझ पाया। साधारण पाश्चात्य भाव के वशवर्ती होकर नीट्शे के मन में यही

---

*"Naked have I seen both of them, the greatest man and the smallest man; all-too-similar are they still to each other. Verily even the greatest found I-all-too-human. Man is something to be surpassed—what have ye done to be surpass man? All beings have created something beyond themselves, and ye want to be the ebb of that great tide and would rather go back to the beast th n surpass man? Let your will say: The supper man shall be the meaning of the earth. Upward goes our way from species to supper species." *Thus Spake Zarathustra* by Nietzsche.

बात आ सकी कि सकल प्रकार की दुर्बलता को केवल निर्मम भाव से त्याग कर शक्ति का संग्रह करना ही अतिमानवत्व का प्राप्त कर लेना है और इसी लिए नीट्शे ने क्रिस्तान धर्म की शिक्षा, दया, स्नेह आदि कोमल प्रवृत्ति की निन्दा की है। किन्तु हृदय के इन कोमल भावों को दमन करने से तो मनुष्य असुर हो जायगा न कि उसके अतिमानवत्व का लाभ होगा*।

गीता बतलाती है कि मनुष्य में जो कुछ भी सत्य शिव सुन्दर है उन सब का उच्चतम विकास कर मनुष्य अतिमानवत्व प्राप्त करेगा। गीता का अतिमानव देवता है न कि असुर जो भगवान् के साथ समधर्मी होगा—मम साधर्म्यमागताः, मद्भाव-मागताः। और उसका उपाय केवल शक्ति की प्राप्ति नहीं है बल्कि उसका उपाय है कर्म, ज्ञान, प्रेम आदि मनुष्य की सकल दिव्य प्रवृत्ति और प्रेरणा को भगवन्मुखी कर मानव-जीवन की सकल सम्भावनाओं का पूर्णतम विकास। हम सदा जिसकी भावना करते है जिसको हमारा समस्त हृदय-मन चाहता है हम को उसी का भाव प्राप्त होता है और वस्तुतः हम वही बन जाते हैं। भगवान् का भाव और भगवान् का साधर्म्य प्राप्त करने के लिए उपाय यही है कि सर्वदा उन्हीं की भावना करे—

---

*नीट्शे के दार्शनिक विचारों का प्रभाव जर्मन जाति के आसुरी बल के अनुशीलन से स्पष्ट दिखाई देता है और वर्तमान जगत् में अन्य जातियों पर भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष है।

सदा तद्भावभावितः। और इसका अर्थ यही है कि भगवान् के लिए यज्ञरूप से हमारे सकल कर्म किए जायँ। समग्र ज्ञान के द्वारा भगवान् को विश्व के अतीत और वैसे ही विश्व के प्रत्येक जीव, अणु-परमाणु में ओत-प्रोत देखें और सर्वत्र उसको ही अपने हृदय का समस्त प्रेम और सद्भावना निवेदन करें।

*सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।।३१*

यही है गीतोक्त साधना का सारतत्त्व।

साधर्म्य-लाभ से भगवान् का क्या मतलब है सो गीता ने स्पष्ट रूप से कहीं नहीं बतलाया। 'उत्तमं रहस्यम्' कह कर उसे छोड़ दिया है। जिस साधना का गीता ने इशारा किया है उस पर चलने से साधकगण आप ही इस रहस्य को समझ सकते हैं। अतिमानववाद की व्याख्या करना गीता का उद्देश्य नहीं था। उस युग में भारतीय अध्यात्म-साधन के प्राचीन सामञ्जस्य को संन्यास और कर्म-त्याग की प्रवृत्ति ने नष्ट कर दिया था। इसका विरोध करना ही गीता का साक्षात् उद्देश्य था। संन्यास और कर्म त्याग की जो प्रवृत्ति अर्जुन ने दिखाई उसकी तीव्र भाव से निन्दा करके गीता की समग्र शिक्षा आरम्भ होती है और इसी बात को मूल समस्या रूप से ग्रहण कर गीता की समग्र शिक्षा दी गई है। गीता जोर से कहती है कि भगवान् को आत्मसमर्पणपूर्वक इसी संसार में कर्म करते हुए

मनुष्य उच्चतम सिद्धि प्राप्त कर सकता है और उसके लिए त्याग वा संन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है–

*कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ३। २०*

भीतर निश्चल शान्ति और बाहर सक्रियता गीता का प्रस्ताव है। अचल अटल शान्ति की भित्ति पर बृहत्तम कर्म करना, मन में परम शान्ति रखकर संसार के समस्त प्रयोजनीय कर्म को सर्वाङ्ग सुन्दर रूप से सम्पन्न करना—यही गीता की मर्म कथा है। भारत में बौद्ध धर्म की प्रबल बाढ़ के सामने गीता की यह कल्याणकारी शिक्षा ठहर न सकी और बाद में आचार्य शङ्कर ने जब तीव्र भाव से मायावाद और संन्यास का प्रचार किया तो वह एकदम नष्ट ही हो गयी। गीता की शिक्षा के अनुसार जीवन गठन कर अपने मानवत्व की ओर अग्रसर होने का युग तब नहीं आया था। गीता का जो साधर्म्य आदर्श है अर्थात् भगवान् के भाव को प्राप्त करना, इस की पुनरावृत्ति तो ईसा मसीह की रहस्यमय उक्ति में हुई है, "Be perfect as your Father in heaven is perfect" जैसे परम पिता पूर्ण हैं वैसे ही मनुष्य को भी पूर्ण होना चाहिए। नीट्शे, बर्गसां, एलगजेण्डर आदि आधुनिक मनीषियों की शिक्षामें हम को इसी आदर्श का क्षीण आभास मिलता है। किन्तु गीता की इस शिक्षा का यह मर्म पूर्णतम विकसित हुआ श्री अरविन्द के योग में। मनुष्य किस प्रकार भगवान् के प्रति

पूर्ण भाव से आत्मसमर्पण कर अतिमानस चैतन्य में प्रतिष्ठित होगा यही इस योग की मूल कथा है।

आधुनिक योरप के श्रेष्ठ मनीषी हैं बर्गसाँ। उनकी मुख्य बात यही है कि इस जगत् में कुछ भी स्थिर नहीं, जगत् एक महान् प्राण शक्ति ( Elan vital ) का खेल है। यहाँ अनवरत परिवर्तन, विकास और सृष्टि चल रही है और इस सब विकास के द्वारा जगत् एक अभूतपूर्व आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है यह प्राणशक्ति एक दिन इस मर्त्यलोक में मृत्यु का भी विजय करेगी, ऐसा स्वप्न भी बर्गसाँ ने देखा है। भगवान् इस प्राण-शक्ति से भिन्न और कुछ नहीं हैं, सृष्टि के भीतर रहकर क्रमशः पूर्णता और अमृतत्व की ओर अग्रसर हो रहे हैं*।

इस मत ने और इससे पूर्ववर्ती डार्विन के विकाशवाद ने कृस्तान धर्म की जड़ को नष्ट कर दिया है। परन्तु यह विकाशवाद गीता की उदार शिक्षा की एक क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। भगवान् जीव रूप से आविर्भूत हुए हैं और जीव की

* "This persistently creative life, of which every individual and every species is an experiment, is what we mean by God; God and life are one. But this God is finite, not omnipotent, limited by matter, and overcoming its inertia painfully step by step, and not omniscient, but gropping gradually towards knowledge and consciousness and light."—*Durant on Bergson's Conception of God.*

अन्तर्निहित भागवत सत्ता है, वही क्रमशः विकास के साथ पूर्णता और अमृतत्व की ओर अग्रसर हुई है। यह जीव ही प्रकृति से क्रमश. देह, प्राण, इन्द्रिय, मन आदि का विकास करता है। और यह जीव है भगवान् का अंशमात्र–

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।*
*मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ १५–७।*

भागवत चैतन्य से विच्छिन्न होकर जीव अपूर्णता को प्राप्त हो गया है और अज्ञान में डूब गया है, और क्रमशः वहाँ से भागवत चैतन्य की पूर्णता और अमृतत्व में उठ रहा है– यही पार्थिव विकासवाद का मूल रहस्य है। भगवान् में तो कभी किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है, वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान और अपनी अनन्तता में चिरपूर्ण हैं।

इस जगत् में जो अनवरत परिवर्तन चल रहा है वह तो "जगत्" शब्द से ही सूचित होता है और गीता ने भी उसको स्पष्ट बता दिया है–

*न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।*
*कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३–५।*

"एक मुहूर्त के लिए भी बिना कर्म किए वस्तु भी नहीं ठहर सकती, प्रकृति-जात गुणों द्वारा बाध्य होकर सब को कर्म करना पड़ता है।" सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुणों द्वारा प्रकृति सकल कर्म करती है और ये तीनों गुण अनवरत

परिवर्तित होते रहते हैं ( गीता १४–१० )। किसी एक विशेष मुहूर्त में इस दृश्यमान विश्व प्रपञ्च की भगवान् ने सृष्टि कर दी है ऐसा क्रिस्तान मतवाद गीता को मान्य नहीं है। गीता के मत से भगवान् अपनी प्रकृति के द्वारा अनवरत सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। इस जगत् के ध्वंस के साथ सृष्टि भी चलती है और इस भाव से जगत् के भीतर रहते हुए भगवान् अपने को पूर्ण से पूर्णतर भाव में प्रगट करते हैं–

*मायाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।*
*हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९–१० ।*

किन्तु इस अविश्रान्त सृष्टि, कर्म और क्रम-विकास के पीछे एक कूटस्थ सत्ता है जो शान्त, अचल और अक्षर है। उसी के आधार पर जगत् ठहरा हुआ है, उसी के द्वारा जगत् के सकल कर्म और सकल गति सम्भव है–

*प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।*
*यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ १३–२९ ।*

बर्गसाँ और दूसरे पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रकृति की अविश्रान्त कर्मधारा को ही लक्ष्य किया है, किन्तु उसके पीछे भित्ति-स्वरूप जो अचल, अक्षर, अकर्ता आत्मा है उसका उन्हें पता नहीं। पाश्चात्य जीवन पर इस मतवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पाश्चात्य जाति कर्म के लिए पागल है, और स्थिर भाव से वह कर्म करती चली आ रही है और कर्म में ही

वह जीवन की पूर्णता देखती है। किन्तु उनके इन कर्मों के पीछे कोई सुदृढ़ अध्यात्म भित्ति नहीं है और इसी कारण कर्म पूर्णतः आत्मविरोधी है और उसके द्वारा दुःख, अशान्ति और अमंगल की उत्पत्ति होती है। वास्तव में पाश्चात्य जाति में रजोगुण की प्रधानता है और इसी गुण के फल-स्वरूप दुःख और अशान्ति प्राप्त होते हैं, *रजसस्तु फल दुःखम्*। भारत ने भी अपने गौरवमय युग में बहुत कर्म और सृष्टि की है किन्तु यहाँ रही प्रधानता सत्त्व गुण की। भारत ने जिस प्रकार उच्च-तम दार्शनिक ज्ञान को जीवन की भित्ति बनाया है, ज्ञानी ऋषि दार्शनिक लोगों को समाज का नेता किया है ऐसा और कहीं भी देखने को नहीं मिलता, और यही है भारतीय सभ्यता की विशेषता। किन्तु सत्त्व गुण भी स्थिर नहीं रह सकता, मनुष्य का जीवन आध्यात्मिकता पर सुप्रतिष्ठित न हो तो उसका सत्त्व गुण भी तमोगुण से अभिभूत हो जाता है। इस देश में यही बात हुई है। राजस की प्रधानता के कारण पाश्चात्य जगत् अशान्तिपूर्ण हो गया है और तामस के प्रभाव से भारत को मानो मृत्यु की शान्ति ने धर दबाया है। इन दोनो का अतिक्रम करना होगा। तमोगुण की मृत्यु तुल्य शान्ति नहीं चाहिए, आत्मा की जो अनन्त अविचल शान्ति और नीरवता है उसको प्रतिष्ठित करना होगा और उसी के प्रकाश स्वरूप पूर्णतम भाव से प्रकृति के द्वारा कर्म करना होगा; सत्त्व, रजः,

तमः प्रकृति के जो तीन गुण हैं उनको रूपान्तरित कर ज्योति, तप-शक्ति और अध्यात्म शान्ति में परिणत करना होगा। तभी यह दुःखद्वन्द्वमय मानवजीवन दिव्य जीवन में परिणत होगा। गीता की शिक्षा का उत्तम रहस्य यही है।

हमारा यह कहना नहीं है कि जगत्, भगवान्, मनुष्य और उसके भविष्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानने की बात है वह सब पूर्णरूप से गीता में बताई गई है। ऐसा हो भी नहीं सकता; सत्य एक होते हुए भी बहुमुखी है और उसके अनन्त भाव और व्यंजनाएँ हैं। वे सबके सब एक अवतार के द्वारा एक ही ग्रन्थ में कथित वा सकलित हो सकें ऐसा सम्भव नहीं। मनुष्य को पूर्णत्व लाभ करने में और बहुत सी बातें जाननी और समझनी होंगी। गहरी खोज के द्वारा नवीन सत्य के द्वार को खोजना होगा और उस सब सत्य को साधना द्वारा अपने जीवन में मूर्तिमान करना होगा। हमारा कहना इतना ही है कि मनुष्य की दार्शनिक चिन्ताधारा आज पर्यन्त गीता को छोड़ कर आगे नहीं बढ सकी। इस चिन्ताधारा में जो कुछ भी सार और महत् है उसका गीता के श्लोकों में गम्भीर समन्वय हुआ है। और आगे बढ़ने के लिए हमको गीता के इस समन्वय को ही भित्ति रूप से ग्रहण करना होगा। हम किसी दिशा में किसी भाव से अग्रसर हों उसका समुज्ज्वल-निर्देश हमको गीता से प्राप्त होगा।

# वेद और गीता

वेद का गीता से सम्बन्ध-विचार करने पर पहले ही जान पड़ता है कि मानो गीता वेद के विरुद्ध प्रकाश्य विद्रोह की घोषणा करती है। द्वितीय अध्याय के ४२ से ४४ श्लोक पर्यन्त गीता ने वेदवादियों की तीव्र आलोचना की है, और ४५वें श्लोक में स्पष्ट ही कहा है—

*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।*

"त्रिगुणमयी प्रकृति का खेल ही वेद का आलोच्य विषय है; अर्जुन, तुम त्रिगुण से अतीत हो जाओ।" और एक जगह गीता कहती है, ज्ञानी व्यक्ति वेद और उपनिषद् का अतिक्रम कर जाय,—*शब्दब्रह्मातिवर्तते*।

गीता जैसा उदार सार्वजनीन आध्यात्मिक शास्त्र इस प्रकार सनातन हिन्दू धर्म के मूल और आर्य-शिक्षा के स्रोत वेद की निन्दा और अवहेलना करे इसका प्रकृत तात्पर्य क्या है? यदि हम भले प्रकार देखें तो स्पष्ट होगा कि गीता ने वेद को अति उच्च स्थान दिया है और जैसे कि उपनिषदों की शिक्षा का मूल वेद से गृहीत है वैसे ही गीता की वास्तविक शिक्षा और उसका मूल तत्त्व अधिकांश उपनिषद् से लिया गया है। गीता ने स्वयं अन्यत्र वेद के महत्त्व को

स्वीकार किया है। भगवान् श्रीकृष्ण १५वें अध्याय में अर्जुन से कहते हैं–

*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाऽहम् ।*

"सकल वेद में मैं ही एक मात्र ज्ञातव्य विषय हूँ,–मैं ही वेदान्त का प्रणयनकर्त्ता और वेद का ज्ञाता हूँ।" गीता का अर्थ हृदयङ्गम होने पर, गीता की समस्त शिक्षा से उसे मिला कर गीता के प्रत्येक अंश का अर्थ करना चाहिए। किसी एक श्लोक को देखकर गीता के अर्थ-सम्बन्ध में यदि हम कोई सिद्धांत स्थिर करें तो पद पद पर भूल होगी। ऐसा मालूम होगा कि एक स्थान में तो गीता वेद की निन्दा करती है और दूसरे स्थान पर वेद को श्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञान का शास्त्र स्वीकार करती है। वास्तविक बात तो यह है कि वेद का विकृत अर्थ कर, वेद-धर्म के प्रकृत भाव को न समझ कर जो वेद की दुहाई देते हैं और वेद के नाम पर लोगों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करते हैं ऐसे ही केवल वेदवादरत लोगोंकी गीता ने निन्दा की है। किन्तु गीता स्वयं वेद की शिक्षा के निगूढ़ मर्म का पता देने में अग्रसर है। अतएव गीता वेदविरोधी नहीं है। बल्कि गीता को वेद का श्रेष्ठ भाष्य वा व्याख्या-रूप से ग्रहण कर सकते हैं। आचार्य्य शङ्कर भी यही कहते हैं,–"*तदिदं गीता-शास्त्रं समस्तवेदार्थ-सार-संग्रहभूतम*"–यह गीता शास्त्र समस्त वेदार्थ का सार-संग्रह-स्वरूप है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने

व्याख्यान में कहीं कहा है–"The only commentary, the authoritative commentary on the Vedas, has been made once and for all by him who inspired the Vedas, by Krishna in the Gita"—वेद का एक मात्र विश्वासनीय भाष्य गीता है। जिन्होंने वैदिक ऋषिगण के हृदय में वेद का प्रकाश आलोकित किया है उन्हीं श्रीकृष्ण ने गीता में जो वेद की व्याख्या की है वही वेद की सङ्गत और चरम व्याख्या है"।

वर्तमान प्राच्य और पाश्चात्य पण्डितगण वेद की व्याख्या करने में जैसा परिश्रम करते हैं और परेशानी उठाते हैं उसके सामने स्वामी विवेकानन्दजी का कथन अत्युक्ति जान पड़ता है। वेद की एक एक ऋचा वा एक एक मन्त्र और कथा को लेकर बहुत वादानुवाद और नाना प्रकार के भाष्य और व्याख्याएँ की जा सकती हैं। तो फिर यह कैसी बात कि यह सब चेष्टा न कर केवल गीता पढ़कर ही वेद का मर्म समझा जा सकता है। वास्तव में वेद की आलोचना कर के जो लोग अपने पाण्डित्य का प्रकाश करना चाहते हैं उनके लिए स्वामीजी ने निश्चय ही उपर्युक्त बात नहीं कही। और फिर कोई कितना ही बड़ा पण्डित क्यों न हो और कितना ही परिश्रम क्यों न करे, वैदिक युग में ऋषिगण ने कहाँ किस शब्द का किस अर्थ में व्यवहार किया था, कहाँ उनका क्या उद्देश्य और लक्ष्य था, सहस्रों वर्षों के

बाद अब उसका ठीक निर्धारण करना असम्भव है। और यह बात नाना मुनियों के अनेक मत होने से सहज समझ में आ जाती है। वैदिक युग से हम अब इतने दूर हैं कि हमारे मन, प्राण, बुद्धि, चिन्ता उस युग के मनुष्य की अपेक्षा इतने विभिन्न हो गए हैं कि वेद के आदिम अर्थ का सर्वत्र और सम्पूर्ण भाव से उद्धार करना दुराशा मात्र है। यदि हम अपनी मनमानी वेद की व्याख्या करेंगे तो परिणाम उलटा ही होगा। बनाने चले शिव; बन गया बन्दर। आज कल वेदों की नाना व्याख्याएँ हो रही हैं उनके बारे में ये बातें विशेष रूप से लागू हैं तो क्या वेद पढने से कोई लाभ नहीं? वेद से क्या कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती? सनातन हिन्दू धर्म का मूल-स्वरूप समझने में, अपना आध्यात्मिक जीवन गठन करने में, भविष्य के लिए पथ-निर्णय करने में क्या वेद से हमें कुछ भी प्रकाश नहीं मिल सकता? हाँ, मिल सकता है, वेद पढ़कर लाभ हो सकता है। किन्तु केवल पाण्डित्य-प्रकाश करने के लिए वेद पढ़ने से कोई लाभ न होगा। खाली माथापच्ची होगी। वैदिक ऋषियों की मूलतः दृष्टि क्या थी, मानव-जीवन के निगूढ़ रहस्य के सम्बन्ध में कौन सी गुह्य बात वे बता गए हैं, और मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए संकेत से क्या उपदेश दे गए हैं—ऐसी बातों को जनाने के लिए वेद पढ़ना लाभदायक है। किन्तु केवल बुद्धि और विचार द्वारा इस

निगूढ़ मर्म को समझना असम्भव है। जिन्होंने वैदिक ऋषि-गण की तरह साधन-बल से कुछ अन्तर्दृष्टि पाई है उन्हीं के लिए वेद का निगूढ़ मर्म जानना सम्भव है। गीता में हमको यही देखने को मिलता है। गीता ने वेद की विस्तृत व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की है—गीताकार ने तो दिव्य आध्यात्मिक दृष्टि से वेदनिहित सनातन सत्य को ग्रहण कर तदनुसार आध्यात्मिक जीवन का एक नूतन शास्त्र, नवीन वेद की रचना की है। अतएव गीता को वेद का भाष्य वा व्याख्या कहना कोई अत्युक्ति नहीं है।

गीता ने इस प्रकार नूतन भाव से वेदोक्त सत्य का प्रकाश किया है उसका एक दृष्टान्त गीता का विश्वरूप-वर्णन है। इस वर्णन का मूल है ऋगवेद का विख्यात पुरुष-सूक्त। इस सूक्त की प्रथम ऋचा है—

*सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।*
*स भूमिं सर्व्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥*

"विराट् पुरुष के सहस्र सिर सहस्र चक्षु सहस्र पाद हैं। वह समग्र ब्रह्माण्ड को सर्वतोभावेन व्याप्त कर, दश दिशाओं का अतिक्रमण कर अवस्थित है।"

गीता ने जो कहा है कि जीव भगवान् का अंश है, *ममैवांशः* इसका भी मूल इसी सूत्र में है। *पादोऽस्य विश्वा भूतानि* इस अनन्त मस्तक पुरुष का एक पाद ( अंश ) मात्र यह विश्व

और भूतग्राम है। वेद और गीता में जो यह अनन्त मस्तक-पुरुष का वर्णन है वह एक शक्तिशाली रूपक है जिसके दिव्य कवित्व के भीतर मन वचन से अतीत पूर्ण अनन्त ब्रह्म का स्वरूप प्रकाशित है। वेद की भाषा साधारणतः इस प्रकार रूपक की है और गीता की पद्धति इससे भिन्न है। रूपक द्वारा जिस बात का वर्णन वेद में है गीता सीधी सीधी भाषा में उसी की व्याख्या करती है। वेद में चार वर्णों के तत्त्व का इस प्रकार वर्णन है—

*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यकः कृतः।*
*ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥*

वेद में इस ऋचा की अनेक रूप से कई व्याख्याएँ की गई हैं। जैसे, सृष्टिकार विधाता के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय इत्यादि का जन्म हुआ। किन्तु, *ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्*—इसका अर्थ यह नहीं कि "ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुए।" वस्तुतः वेद के अन्यान्य अंश की तरह इस रूपकात्मक ऋचा में उपमा के द्वारा एक गम्भीर आध्यात्मिक सत्य प्रकट हुआ है। वैदिक रचना की उपमा और रूपक में एक गंभीर उद्देश्य निहित है। परन्तु भाव-प्रकाश का कौशल मात्र पर्य्याप्त नहीं है, सत्य का भी प्रकाश होना आवश्यक है। प्राचीन युग के लोगों के निकट कवि द्रष्टा था और इन द्रष्टाओं के लिए अप्रकाश्य को प्रकाश करने के हेतु रूपक उपयोगी प्रतीक था। उनकी दृष्टि में सृष्टिकर्त्ता पुरुष के शरीर का यह प्रतीक केवल

एक उपमा ही नहीं था, बल्कि वह एक दिव्य सत्य को प्रकट करता था और मानव-समाज था एक प्रयास, जीवन में विश्वरूप को प्रकट करने के लिए। चार वर्णों के प्रतीक का तत्त्व यही है कि हम भगवान् को ज्ञानरूप से, भगवान् को शक्तिरूप से, भगवान् को उत्पादन, भोग और आदान-प्रदान रूप से या भगवान् की सेवा, परिचित व्यक्ति और कर्म रूप से प्रकट करते हैं और इन चार वर्णों के अनुरूप चार विश्वनीति भी हैं—प्रज्ञा (Wisdom) सकल वस्तुओं की शृङ्खला और मूल नीति का उद्भावन करती है, शक्ति ( Power ) उसका अनुमोदन, समर्थन और प्रवर्तन करती है, सुसंगति (Harmony) उसके सब अंशों में सुव्यवस्था की सृष्टि करती है और कर्म (Work) सब को निर्देश कार्य में परिणत करता है। इस कल्पना से बाद में सुदृढ़ और अब भी मान्य एक सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई जिसकी मुख्यतः भित्ति थी गुण (Ethical type) और उसकी उपयोगी नैतिक शिक्षा, अनुशासन और गौणतः कर्म गुण का अनुयायी, नैतिक विकास का सहायक—अर्थात् सामाजिक और नैतिक कर्म। इस तत्त्व को गीता ने सहज भाषा में व्यक्त किया है—

*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*

वेदादि शास्त्र की व्याख्या को लेकर जो मतभेद है उससे साधारण मनुष्य विभ्रान्त हो जाता है। पथ-प्रदर्शन शास्त्र का

उद्देश्य है किन्तु जब हम अति मात्रा में शास्त्र के अधीन हो जाते हैं तो हमारे भीतर जो सकल शास्त्र के वेत्ता स्वयं भगवान् स्थित हैं उनको भूलकर हम केवल शास्त्र-विचार में मग्न हो जाते हैं। सकल शास्त्र का उद्देश्य इन अन्तःस्थित भगवान् को जानना है, जिनको जानकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। शास्त्र जब विचारवितर्क के जाल में भगवान् को ही ढक देता है तब वह विषवत् त्याज्य है। इसीलिए गीता ने सकल शास्त्र के विरुद्ध खुले विद्रोह की घोषणा कर कहा है—"समस्त देश के जलप्लावित हो जाने पर सामान्य कूप के जल का जितना प्रयोजन—अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं, ज्ञानी व्यक्ति का समस्त वेद से उतना ही प्रयोजन अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है।" वेद, उपनिषद्, श्रुति-शास्त्र आदि की आलोचना से जो बुद्धि-विपर्यय हो जाता है, गीता उसको स्पष्ट भाव से "श्रुति-विप्रतिपन्ना" कह कर बताती है। अतएव वेदादि शास्त्रों को लेकर अधिक माथापच्ची न कर ऐसी चेष्टा करना हमारा कर्त्तव्य है जिससे भीतर के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो। गीता ने यही सरल सहज पथ दिखा दिया है। गीता दिव्य दृष्टि से सकल आध्यात्मिक सत्य का ग्रहण कर, साधन-जीवन का जैसा पथ दिखा देती है उसके अनुसरण से क्रमशः साधक का अन्तर आलोकित हो उठता है,—*ज्ञानदीपेन भास्वता*; वह वेद उपनिषद् का अतिक्रम करता है,—*शब्दब्रह्मातिवर्तते*।

उद्देश्य है किन्तु जब हम अति मात्रा में शास्त्र के अधीन हो जाते हैं तो हमारे भीतर जो सकल शास्त्र के वेत्ता स्वयं भगवान् स्थित हैं उनको भूलकर हम केवल शास्त्र-विचार में मग्न हो जाते हैं। सकल शास्त्र का उद्देश्य इन अन्तःस्थित भगवान् को जानना है, जिनको जानकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। शास्त्र जब विचारवितर्क के जाल में भगवान् को ही ढक देता है तब वह विषवत् त्याज्य है। इसीलिए गीता ने सकल शास्त्र के विरुद्ध खुले विद्रोह की घोषणा कर कहा है—"समस्त देश के जलप्लावित हो जाने पर सामान्य कूप के जल का जितना प्रयोजन—अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं, ज्ञानी व्यक्ति का समस्त वेद से उतना ही प्रयोजन अर्थात कोई प्रयोजन नहीं है।" वेद, उपनिषद्, श्रुति-शास्त्र आदि की आलोचना से जो बुद्धि-विपर्यय हो जाता है, गीता उसको स्पष्ट भाव से "श्रुति-विप्रतिपन्ना" कह कर बताती है। अतएव वेदादि शास्त्रों को लेकर अधिक माथापच्ची न कर ऐसी चेष्टा करना हमारा कर्त्तव्य है जिससे भीतर के ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो। गीता ने यही सरल सहज पथ दिखा दिया है। गीता दिव्य दृष्टि से सकल आध्यात्मिक सत्य का ग्रहण कर, साधन-जीवन का जैसा पथ दिखा देती है उसके अनुसरण से क्रमशः साधक का अन्तर आलोकित हो उठता है,—*ज्ञानदीपेन भास्वता*; वह वेद उपनिषद् का अतिक्रम करता है,—*शब्दब्रह्मातिवर्तते*।

अतएव वेदादि शास्त्र को ही परम वस्तु मानकर उनको आग्रह-पूर्वक प्रकट रखने का कोई प्रयोजन नहीं है।

गीता ने वेदार्थ-शास्त्र-संग्रह किया है, ऐसा मानकर यह न समझना चाहिए कि जो वेद में है उससे अधिक गीता में कुछ नहीं है। वास्तविक सत्य एक और सनातन होते हुए भी देश देश और युग युग में उसका प्रकाश और रूप विभिन्न होता है। युगायुगान्तरों में सत्य के पूर्ण प्रकाश की लीला चल रही है—सत्य अनन्त, सत्य का प्रकाश भी अनन्त। अतएव किसी युग और किसी देश के धर्मशास्त्र में जगत् के समस्त सत्य निःशेष रूप से कथित हैं, या किसी युगावतार ने धर्म सम्बन्धी जो उपदेश दिया है उसके सिवाय कहने सुनने की कोई बात नहीं रहती—ऐसी धारणा नितान्त अपरिपक्व और संकीर्ण बुद्धि का फल है। धर्मशास्त्र के जगत् में अवश्य ही वेद जैसा आध्यात्मिक सत्य का आकार दूसरा कोई नहीं है। सनातन सत्य-समूह वेद में बीजरूप से निहित है। किन्तु वैदिक युग में जिस रूप से उसका प्रकाश हुआ वही चिरकाल के लिए है और उसे छोड़कर और कुछ भी नहीं ऐसा मानना नितान्त भ्रम है। वेद को भित्ति बनाकर आध्यात्मिक सत्य के प्रकाश के लिए बहुत आगे बढ़ गए; और वेद और उपनिषद् को भित्ति बना कर गीता और भी अग्रसर हुई है। गीता की शिक्षा का मूल वेद और उपनिषद् हैं, किन्तु गीता ने जिस

प्रकार तत्त्व का विवेचन किया है वह वेद और उपनिषद् में नहीं मिलता। गीता का पुरुषोत्तम-तत्त्व ऐसा ही तत्त्व है। बीज रूप से यह वेद और उपनिषद् में निहित है सही परन्तु उसका पूर्ण विकास गीता में ही हुआ है और वेद में यज्ञ की जो व्यवस्था और वर्णन है कालक्रम से उसमें दोष आ गया है। उपनिषद् युग में वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड को लेकर खूब विरोध हुआ। गीता भी वेद के कर्मकांड की तीव्र निन्दा करती हैं ऐसा मालूम होता है। महाभारत युग में वैदिक यागयज्ञ की खूब ही अवनति हो गई थी। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से जो प्रश्न किए थे उनमें एक स्थल पर ऐसा कहा गया है कि काल क्रम से वैदिक अनुष्ठान समूह अव्यवहार्य्य हो गया है। जो लोग बीस शताब्दी से प्राचीन भारत के वैदिक यज्ञयागादि क्रिया-कला का पुनराविर्भाव करना चाहते हैं वे उद्योग कर उसके फल को स्वयं देख लें सो ही अच्छा है। जो कुछ भी हो गीता ने क्रिया-विशेष-बहुल वैदिक यज्ञयागादि की प्रकाश्य निन्दा की है (२ अध्याय ४२-४४)। तथापि बौद्धों की नाँईं गीता यज्ञ को एकदम उड़ा भी नहीं देती; यज्ञयागादि अनुष्ठान के अन्तर्निहित अध्यात्म और सत्य को ग्रहण कर यज्ञ शब्द को अति उदार अर्थ प्रदान करती है। यज्ञ जैसे देवताओं के लिए किया जाता है वैसे ही हमारे भीतर और बाहर के सकल कर्म भगवान् के लिए उत्सर्ग करने चाहिए।

*यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।*
*यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९।२७॥*

इस प्रकार यज्ञार्थ कर्म को गीता ने सकल कर्म भगवान् को अर्पण करना समझा है। "*यज्ञो वै विष्णुः*" इस श्रुति वाक्य का अनुसरण कर बहुत लोगों ने यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ ईश्वर बताया है। किन्तु इस प्रकार कष्ट कल्पित गौण अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। गीता ने यज्ञ शब्द का अर्थ यज्ञ ही समझा है। तब तो यज्ञमात्र का लक्ष्य भगवान् हो जाता है। सकल क्रियाएँ भगवान् के लिए ही हैं और प्रकृति के सकल जीव भगवान् से आए हैं, उनके द्वारा धारण किए हुए हैं और उन्हीं की ओर चल रहे हैं। अतएव सब कर्मों को यज्ञ रूप से भगवान् को अर्पित करने से हमारे जीवन के निगूढ़ सत्य का अनुसरण किया जाता है। अहंकार से अन्धे होकर हमने इस सत्य को भुला दिया है। और स्वार्थ भाव से जो कर्म करते हैं, वही बन्धन का कारण है। जिन प्राचीन टीकाकारों ने यज्ञ शब्द का ईश्वर अर्थ किया है इससे ही जान पड़ता है कि उनके मत में भी यज्ञार्थ कर्म केवल वैदिक यज्ञ और तत्सम्बन्धी कर्म न समझना चाहिए। कोई भी कर्म क्यों न हो यदि वह भगवान् के लिए अनुष्ठित है और फलाकांक्षा से रहित है तो उससे जीव को बन्धन नहीं होता।

साधारणतः वेद के नाम से प्राचीन यज्ञयागादि करने का शास्त्र समझा जाता है। अन्ततः वेद के विख्यात भाष्यकर्ता सायणाचार्य ने जो व्याख्या की है उससे भी यही जाना जाता है कि यज्ञयागादि का अनुष्ठान करके किस प्रकार देवताओं को तृप्त करना चाहिए और उनकी प्रसन्नता से अनेक प्रकार से कल्याण-लाभ किया जा सकता है—वेद में इसी बात का वर्णन है। वेद-सम्बन्धी इसी धारणा को गीता ने वेद-वाद का नाम दिया है। और जो इसके विपरीत है वही धारणा ब्रह्मवाद है। वस्तुतः गीता रचे जाने के बहुत पहले से ही वेद के अर्थ को लेकर दो पक्ष हो गये थे और उनमें मत-भेद चला करता था। उन मतों को लेकर दो प्रधान मीमांसाएँ हुई थीं—एक पूर्वमीमांसा, दूसरी उत्तरमीमांसा। वेद में उच्च आध्यात्मिक सत्य समूह का सन्धान पाया जाता है वही वेद का ज्ञानकाण्ड है और जिसमें यज्ञयागादि क्रिया-कला का सविस्तर वर्णन है वही कर्मकाण्ड है। वेद के इन दोनों काण्डों में विरोध बहुत दिनों से चला आता था। इस विरोध की मीमांसा कर जिन्होंने यज्ञयागादि को प्रधान व्यापार समझ कर उसी के द्वारा विधिपूर्वक क्रिया-कला के अनुष्ठान से इस लोक में धन, पुत्र, जय और सर्व प्रकार का सौभाग्य, और परलोक में स्वर्ग और अमृतत्व प्राप्त होना माना और इसी को

वेद की मूल शिक्षा समझा—उनकी मीमांसा का नाम पूर्व मीमांसा है। जिन्होंने यह कहा कि ये सब यज्ञयागादि अति नीच व्यापार हैं, केवल प्रथमावस्था में इनका कुछ प्रयोजन और उपयोग है किन्तु मनुष्य को पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान लाभ करना होगा, ब्रह्म को जानना होगा और इसी प्रकार मनुष्य प्रकृत अमृतत्व और आनन्द प्राप्त कर सकेगा—उनकी मीमांसा का नाम उत्तर मीमांसा है। कहना न होगा कि वेद की मूल शिक्षा समग्र भाव से समझ सकने के कारण ही इस विरोध का उद्भव हुआ था—एक दल के लोगों ने कर्म पर जोर दिया था और दूसरों ने ज्ञान पर। किन्तु वेद में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। गीता ने वेद के मूल दृष्टिबिन्दु का अनुसरण कर इस विरोध का समन्वय और सामञ्जस्य किया है। गीता निम्नलिखित श्लोकों में यज्ञ का वर्णन करती है—

*सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।*
*अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥*
*देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।*
*परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥*
*इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।*
*तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥*
*यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै।*
*भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥३—१०।१३*

सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित सकल प्रजा की उत्पत्ति कर कहा, "इस यज्ञ द्वारा तुम उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करो और यही यज्ञ तुमको मनोवांछित फल-प्रदान करे। इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं को संवर्द्धित करो और वही देव-गण तुम को संवर्द्धित करें; इस प्रकार परस्पर संवर्द्धन करते हुए तुम परम मङ्गल लाभ करोगे। यज्ञ द्वारा संवर्द्धित होकर देवगण तुमको अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे। देवदत्त भोग प्राप्त कर जो व्यक्ति देवताओं को प्रदान न कर स्वयं उसका भोग करता है वह चोर है। जो यज्ञाविशेष अन्न भोजन करते हैं वे सकल पापों से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो केवल अपने ही लिए अन्न पाक करते हैं वे पापी पाप का ही भोजन करते हैं।"

इन श्लोकों में वेद जिसको यज्ञ कहता है उसका सुन्दर परिचय गीता ने संक्षेप से दे दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि गीता यहाँ वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान का उपदेश देती है। परन्तु ऐसा यज्ञानुष्ठान तो केवल प्राचीन काल में भारत में ही प्रचलित था—ऐसा होने से क्या गीता सर्वदेश, सर्वकाल के मनुष्यों को उपयोगी शिक्षा नहीं देती? गीता जैसा सार्वजनीन उदार धर्म-शास्त्र जगत् में और कहीं नहीं है। गीता कहीं भी ऐसी शिक्षा नहीं देती जो सकल देश, सकल युग के मनुष्यों के लिए प्रयोजनीय न हो। दो एक स्थलों में गीता ने जो प्राचीन भारत की रीति-नीति, आचार-अनुष्ठान का उल्लेख किया है वह

केवल दृष्टान्त-स्वरूप है, किन्तु इन सब दृष्टान्तों में जो अन्तर्निहित शिक्षा है वह सर्वत्र ही उपयोगी है। गीता ने यहाँ कर्म की नीति समझाई है। कर्म किस भाव से करने से बन्धन का कारण न होकर मनुष्य को क्रमशः अत्युन्नति के पथ पर ले जायगा—गीता ने इसी का निर्देश किया है। यहाँ गीता की मूल शिक्षा यही है कि इस संसार में सभी सबके साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, यहाँ कोई अकेला नहीं रह सकता। जीवन-यात्रा में कोई अकेला अग्रसर नहीं हो सकता; परस्पर एक दूसरे की सहायता करनी होगी और एक दूसरे से सहायता ग्रहण करनी पड़ेगी। सृष्टि का यही सनातन नियम है। आदि-काल से इसी प्रकार आदान-प्रदान के द्वारा मनुष्य क्रमशः परम कल्याण की ओर अग्रसर हुआ है। जब जगत् का ऐसा सनातन नियम है तो जो लोग इस नियम के विरुद्ध आचरण कर संसार से अपने ही लिए साहाय्य ग्रहण करें और दूसरों के लिए आत्मदान से कोई सहायता न करे—वे पापी हैं, चोर हैं, और जगत् के अनिष्ट के कारण हैं। जगत् के सनातन नियम के बल से उनका जीवन निश्चय ही व्यर्थ होगा। अतएव जगत् के कल्याण के निमित्त अपने को सदा उत्सर्ग करना होगा, यही यज्ञ है, यही सैक्रिफाइस (sacrifice) है, और यही जीवन लाभ की मूल नीति है। केवल इन्द्रिय-भोग और स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करना उचित नहीं, जगत् के कल्याण और लोक-

संग्रह के लिए सर्वभूत-हित के लिए कर्म करना चाहिए। यही यज्ञार्थ कर्म है। इस प्रकार कर्म करते करते तुमको जो सुख-भोग और लाभ होगा वह तुम्हारे लिए अमृत-तुल्य होगा इन भोग-सुखों में रहते हुए भी तुम समस्त कलुष, समस्त पाप से मुक्त हो जाओगे—

*यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।*

उच्च जीवन लाभ की यह सनातन नीति यज्ञ के रूपक में जन साधारण के सम्मुख प्रकाश की गई है। वेद में सर्वत्र ऐसी ही पद्धति है। अन्तर्जीवन की सब बात बाह्य आचार-अनुष्ठान के रूप में प्रकाश की गई है। इस प्रकार वैदिक समस्त यागयज्ञ-क्रिया-कलाप के दो रूप हैं—एक आध्यात्मिक, दूसरा बाह्य अनुष्ठान। ठीक ढङ्ग से आचरण करते हुए क्रमशः आन्तरिक सत्य लाभ कर मनुष्य श्रेय पथ पर अग्रसर होता है।

किन्तु जो लोग यह कहते है कि बाह्य अनुष्ठान ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—"*नान्यदस्तीतिवादिनः-ते अविपश्चितः*" अर्थात् अज्ञानी हैं। बहुत लोगों ने वेद की इस प्रकार विकृत व्याख्या की है। उनके मत में अन्तर्जीवन के परिवर्तन का कोई प्रयोजन नहीं, न आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि की कोई आवश्यकता है। केवल नियम से विधिवत् कुछ यागयज्ञ के अनुष्ठान से ही श्रेष्ठ गति प्राप्त हो जायगी, ऐसा उनका विचार है। किन्तु वेद कोई ऐसी जादू विद्या का शास्त्र

नहीं है, न झाड़-फूक मन्त्र का शास्त्र है, वेद तो गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान का शास्त्र है। यागयज्ञादि अनुष्ठान के रूपक रूप में वेद ने इसी ज्ञान को सकल युग और सभी मनुष्यों के लिए रख दिया है। वेद के अनुष्ठान आदि के इस निगूढ़ मर्म को क्रमशः स्पष्ट किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है वहाँ स्पष्ट ही यह बात कही गई है कि यह सब बाह्य यज्ञानुष्ठान आध्यात्मिक ज्ञान और तपस्या का रूपक है। अग्नि यज्ञ की प्रधान वस्तु है किन्तु यह अग्नि केवल जड़ अग्नि नहीं है। गीता ने कहीं इस अग्नि को ब्रह्म (४।२४) कहा है, कहीं संयम बताया है, और कहीं इसी को इन्द्रिय भी कहा है। गीता की यह व्याख्या कोई कपोल-कल्पित नहीं है। वेद में ही हम स्पष्ट पाते हैं कि अग्नि केवल जड़ अग्नि नहीं है। वास्तविक अग्नि तो तपःशक्ति, आवाहन शक्ति और दृष्टि में करुण शक्ति है। अग्नि के दिव्य श्रवण का विचित्र ज्ञान पूर्ण प्रकट है—

*अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।—ऋग्वेद*

यज्ञ शब्द से गीता का जो मतलब है वह दो विभिन्न स्थानों में व्यक्त किया गया है, एक तीसरे अध्याय में और एक चौथे अध्याय में। तृतीय अध्याय में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है उससे ऐसा जान पड़ता है कि यज्ञ शब्द से गीता का मतलब वेदोक्त यज्ञ अनुष्ठान से ही है। किन्तु चतुर्थ अध्याय

में स्पष्ट भाव से गीता यज्ञ को उदार दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्य का रूपक बताती है। फिर तृतीय अध्याय में गीता की भाषा ऐसी है कि यज्ञ का उदार अर्थ सहज में समझ सकते हैं, जिसको छोड़ कर दूसरा अर्थ करने से चक्कर में पड़ जाते हैं और एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। प्रजापति ने यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि की, इसकी व्याख्या करते हुए कोई कहते हैं कि यज्ञ शब्द से ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य के कर्मसमूह का मतलब है, और कोई कहते हैं कि इस स्थल में यज्ञ शब्द स्मृतिशास्त्र में वर्णित हिन्दू के नित्य कर्त्तव्य पञ्च महायज्ञ* को लक्ष्य करके कहा गया है। किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में ही भगवान् ने इन सब कर्मों की तालिका प्रस्तुत कर दी थी ऐसी व्याख्या अतिशय संकीर्ण और कष्ट कल्पित है। यज्ञ का प्रकृत अर्थ होता है आत्मोत्सर्ग, अपने को और जो कुछ भी लोक में अपना समझा जाता है उसको प्रेम और भक्ति सहित दूसरे के लिए अर्पण करना ही यज्ञ की मूल नीति है। सृष्टि के पहले ही विश्वपिता ने इस दिव्य नीति का निर्धारण कर दिया था जिसके द्वारा लोग अहं भाव की क्षुद्रता और भ्रांति से क्रमशः मुक्त होकर भागवत जीवन की ओर अग्रसर हो सकें। परार्थ के लिए स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग का स्थूल दृष्टान्त और

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

रूपक देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में घृताहुति देना है। वैदिक यज्ञ हिन्दू का नित्य कर्त्तव्य स्मार्त पञ्च महायज्ञ, ये सभी इस विश्वनीति के विशिष्ट प्रयोग वा स्थूल प्रतीक हैं। गीता के चतुर्थ अध्याय में यह बात स्पष्ट समझा दी गई है। गीता के मत से सकल कर्म, सकल जीवन ही को यज्ञ रूप समझना चाहिए। यज्ञ विना जीवन-यात्रा ही नहीं बन सकती। अज्ञानी यज्ञ का प्रकृत मर्म न समझ कर यज्ञ करता है—"*अविधिपूर्वकम्*"; इसी से उसको यज्ञ का सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता।

प्रजापति ने यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि की है। शङ्कर आदि व्याख्याकारों ने इस जगह "प्रजा" शब्द का अर्थ केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के मनुष्य किया है। उन्होंने यज्ञ शब्द का जो संकीर्ण अर्थ समझा है इसी कारण उनको इस कष्ट कल्पना का आश्रय-ग्रहण करना पड़ा क्योंकि वैदिक यज्ञादि का केवल तीन वर्णों को ही अधिकार था, किन्तु इस स्थल में यह बात अति स्पष्ट है कि प्रजा से यहाँ समस्त सृष्टि के जीव मात्र से मतलब है। प्रजापति केवल ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के ही पति नहीं हैं, वे सकल जीव के पिता ईश्वर, सृष्टि-कर्ता हैं और सबके कल्याण के लिए यज्ञ की व्यवस्था कर उन्होंने कहा है, "इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ।" विश्वसृष्टि एक विराट् यज्ञ है, सकल वस्तु के

इस यज्ञ में अपनी आहुति देते हैं, एक दूसरे की सृष्टि करते हैं और उससे अपनी महत्तम सत्ता प्राप्त करते हैं। जड़ ने उद्भिद् की उत्पत्ति की, उद्भिद् ने प्राणी की और प्राणी ने मनुष्य की, और अब मनुष्य उत्पन्न करेगा अतिमानव को क्योंकि पार्थिव क्रम-विवर्त्तन का अभी शेष नहीं हुआ है और मनुष्य ही उसकी चरम और श्रेष्ठ सृष्टि नहीं है। पृथ्वी पर अतिमानव वा देव मानव का आविर्भाव हो, मनुष्य को इसके लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करना होगा। मानव-जाति के प्रति भगवान् का यही निर्देश है और मानव-जीवन की परम सार्थकता भी इसी से है।

वेदोक्त यागयज्ञादि अनुष्ठान द्वारा देवतागण को परितृप्त कर जो अभीष्ट-सिद्धि मिलती है, स्वर्ग प्राप्त होता है, गीता उसे अस्वीकार नहीं करती। नवम अध्याय में गीता कहती है—

*त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा*
*यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।*
*ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-*
*मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥*
*ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं*
*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।*
*एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना*
*गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥*

तो फिर वासना-परायण लोग यागयज्ञादि द्वारा जो क्षण-स्थायी भोग-सुख प्राप्त करे इसका गीता अनुमोदन नहीं करती। गीता की सर्वप्रथम शिक्षा है वासना-त्याग। गीता जिस दिव्य जीवन का परिचय देती है उसके सामने स्वर्ग-सुख तुच्छ है। उसका क्षय नहीं है और पुण्य के शेष होने पर उस स्थान से पतित होने का कोई भय भी नहीं है।

वेद में जिन नाना देवताओं की पूजा का उल्लेख है गीता उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करती और न उनकी पूजा को बिलकुल निरर्थक बतलाती है। गीता तो उलटे यह कहती है कि ये सकल विभिन्न देवता उसी एक श्रेष्ठ देवता पुरुषोत्तम के विभिन्न रूप हैं। जो लोग भोग-सुख के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं वे नहीं जानते कि अविधि-पूर्वक उसी एक मात्र भगवान् परमेश्वर की ही उपासना करते हैं। और वही विभिन्न देवता रूप से सकल भक्तों की मनो-वाञ्छा को पूर्ण करता है ( गीता ७। २१, २२ )। किन्तु जो लोग एक मात्र पुरुषोत्तम की आराधना करते हैं वे ही श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं—"*देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि*"।

वेद का रहस्य तो अब अन्धकार से ढक गया है, वैदिक यागयज्ञ के सकल अनुष्ठान बहुत काल से लुप्त हो गए हैं, तो

ज हिन्दू का जीवन मूलतः इसी वैदिक यज्ञ के आदर्श
प्रणित है। देव देवीगण की पूजा, आह्वान हिन्दू धर्म
ान अङ्ग है, हिन्दू समस्त भोग्य वस्तुओं को पहले देवताओं
ंण कर उनके प्रसाद-रूप से संसार के सुख सम्पद् का
रता है। देवताओं के प्रति हिन्दू की इस यज्ञ-आराधना
य धर्म के लोग निन्दा करते हैं और कहते हैं कि हिन्दू
ता और बहु ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है
ह हिन्दू का अज्ञान और कुसंस्कार है। ईश्वर एक
द्वितीय है, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक
को देवता मान कर पूजा करना असभ्य, अशिक्षित
भ्रम है, अधिक से अधिक कवि हृदय की कल्पना वा
रूपक मात्र है। इसके मूल में कुछ सत्य नहीं है। ऐसे
के विरुद्ध केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भगवान्
में हिन्दू भी विश्वास करता है, ब्रह्म को एकमेवाद्वितीयम्
पनिषद्, दर्शन पहले ही बताते हैं तथापि इस वैदिक
आज तक हिन्दू बहु देवता की पूजा आराधना करता
या है। इस जड़ जगत् के पीछे अति गम्भीर आध्यात्मिक
हिन्दू ने ज्योतिर्म्मय देव-जगत् को प्रत्यक्ष किया है।
ताओं की आराधना अति उच्च आध्यात्मिक सत्य पर
है। वह असभ्य और बर्बर जाति की ईंट, पत्थर और
ी पूजा जैसी नहीं है। किसी नितान्त अज्ञ, मूर्ख हिन्दू

से पूछिए तो वह भी कहेगा कि भगवान् एक ही है। और हम जिन नाना देवताओं की आराधना करते हैं वे सब एक ही भगवान् की विभिन्न शक्ति और विभिन्न रूप मात्र हैं। इन्द्र-चन्द्र-वरुण ब्रह्मा विष्णु महेश्वर सब एक हैं। वेद की भी यह प्राचीन कथा है—"*एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।*" इस एक के बहुरूप और बहु का एकत्व हिन्दू तो सहज में ही समझ लेता है, किन्तु जो बात हिन्दू के लिए सहज है पाश्चात्य बड़े बड़े दार्शनिक पण्डित उसको समझ नहीं सकते। इसलिए वे अपने ज्ञान, बुद्धि और संस्कार के अनुसार वेद उपनिषद् और पुराणों की विकृत व्याख्या कर हिन्दू धर्म को लोगों की दृष्टि में बहुत हीन दिखाते हैं।

आज जड़ विज्ञान भी इस प्राचीन वेदान्तिक सत्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो गया है कि इस जगत् के मूल में एक ही शक्ति (Energy) काम कर रही है। शक्ति (Energy) और जड़ प्रकृति (Matter) इन दोनों को मूलतः एक ही समझना चाहिए। शक्ति की एक विशेष अवस्था ही जड़ प्रकृति है। विद्युत, चुम्बक शक्ति, प्रकाश, ताप, गति यह सब एक ही मूल शक्ति के विभिन्न रूप और क्रिया हैं। विद्युत् से गति उत्पन्न होती है, गति से ताप, ताप से गति, गति से विद्युत्, विद्युत् से चुम्बक शक्ति। इन सब शक्तियों के आदान-प्रदान से ही आश्चर्यमय जगद्-व्यापार संगठित होता है किन्तु यह मूल विश्व-

शक्ति जो विभिन्न नाम और रूप के द्वारा अपने को प्रकट करती है विज्ञान ने उसकी केवल बाह्य यान्त्रिक (Machenical) क्रियाओं का ही सन्धान पाया है और इन यान्त्रिक क्रियाओं की धारा का नाम प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) आविष्कृत किया है। किन्तु इस क्रिया के पीछे जो चैतन्य है उसको विज्ञान के दूरवीक्षण और सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र भी नहीं देख सकते हैं। चैतन्य को हम केवल अनुभूति द्वारा ही जान सकते हैं, यन्त्र से नहीं। जब हम इस आद्य शक्ति से एक ही भाव का अनुभव करते हैं तभी उसके गम्भीरतम रहस्य को समझ सकते हैं। इसके लिए हमारे ही भीतर जो चैतन्य है उसमें डूबना होगा क्योंकि हमारा चैतन्य और विश्व चैतन्य एक ही हैं। वेदान्त के ज्ञान की यही प्रणाली है और इसी के द्वारा भारत के प्राचीन ऋषिगण संसार के सब निगूढ़ तत्त्वों का आविष्कार करते थे।

हमारे शरीर की अनेक क्रियाएँ अभ्यास और संस्कार वश यन्त्रवत् होती रहती हैं, और हमारा चैतन्य उस जगह से दूर हो जाता है और इससे दैनिक जीवन-व्यापार में बहुत सुविधा हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जो चैतन्यमयी शक्ति इस विश्व रूप में प्रगट होती है वह अपने गंभीर उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने को पीछे रखकर बाहर के व्यापार को नियमानुसार यन्त्रवत् चलने देती है। वस्तुतः प्राकृत जगत् की प्रत्येक शक्ति

और प्रत्येक क्रिया के पीछे चैतन्य मौजूद है। ये चैतन्यमय शक्तियाँ जो सांसारिक व्यापारों के पीछे रहकर उन्हें गढ़ती और नियन्त्रित करती हैं वे ही देवता हैं। ये सब देवता एक भागवत शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं उसी के वे भिन्न स्वरूप और विभाग हैं। गीता में वर्णित देवता भी विश्वशक्ति के रूप हैं। वे पुराण कीकहानियों के देवता नहीं है, बाह्य और आन्तर जगत् के व्यापार ये ही देवता संगठित और संचालित करते हैं और भागवत शक्ति के सहकारी बन कर आश्चर्यमय विश्व-नाटक का अभिनय करते हैं।

देवता हविर्भोगी हैं। मनुष्य यज्ञ में घृताहुति देकर यदि देवताओं को पुष्ट करेंगे तो बदले में देवता भी वृष्टि आदि कर मनुष्य को पुष्ट करेंगे। वैदिक यज्ञ का बाह्य तत्त्व यही है। किन्तु इस बाह्य तत्त्व के पीछे एक निगूढ़ अध्यात्म-तत्त्व भी था जिसको कालक्रम से लोग भूल गए–*"सकालेनेह महता योगो नष्टः"*। गीता में श्रीकृष्ण ने इस यज्ञतत्त्व की नवीन प्रकार से व्याख्या की है। गीता के मत में यह अनुष्ठान एक गंभीर अध्यात्म सत्य का प्रतीक और रूपक है। चतुर्थ अध्याय में गीता स्पष्ट कहती है कि जिस अग्नि में होम करना चाहिए वह जड़ अग्नि नहीं है, वह ब्रह्माग्नि है और जिस घृत से आहुति दी जाती है वह भी ब्रह्म है। वस्तुतः वेद की भाषा और वैदिक अनुष्ठान आदि सब रूपकात्मक थे जैसा कि एक

दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद में सोमरस छान कर पीने की बात आती है—

*तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो*
*अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्* (ऋग्वेद ९।८३।२)

"उनकी तप्त सुरा जिससे छान कर शुद्ध की जाती है वही चलनी स्वर्ग में दिवस्पदे (In the seat of Heaven) विस्तृत है उसमें सकल ज्योतिर्मय तन्तु सजे हुए है"।

चलनी की बात से मालूम होता है कि वेद में सोमरस की बात एक उपमा मात्र वा रूपक है क्योंकि पार्थिव सोम मदिरा को छानने के लिए स्वर्ग मे चलनी कैसे चलाई जाय और उसमें से किरणों का वितरण कैसे हो सकता है। यहाँ ज्योतिर्मय चलनी से मतलब है शुद्ध मन। इसी को चलनी का रूपक दिया गया है और उसके सकल तन्तु हैं शुद्ध चिन्ता और शुद्ध भाव। शुद्ध मन को द्यौ वा स्वर्ग कहा गया है। क्योंकि जैसे स्वर्ग पृथ्वी के ऊपर है और पृथ्वी की अपवित्रता उसको स्पर्श नहीं कर सकती वैसे ही शुद्ध मन भी देह-इन्द्रियों की चंचलता से मुक्त है और उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारा साधारण हृदय वा मन भोग्य वस्तु के घात-प्रतिघात से क्षुब्ध और विचिलित हो उठता है और इस तरह दुर्बल अशुद्ध मन को लेकर हम जीवन के प्रकृत गम्भीर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। साधन, संयम, अभ्यास के

द्वारा हृदय मन को शुद्ध, शान्त बनना होगा और तभी जीवन का गम्भीर विशुद्ध आनन्द प्राप्त हो सकेगा। जगत में आनन्द-धारा रूपक जो सोमरस है उसी को वेद में सोमरस कहा गया है। किन्तु यह आनन्द-धारा सर्वत्र विस्तृत, अरूप, निराकार (Impersonal) है। इसके अतिरिक्त सोमदेव का साकार रूप भी है। इस प्रकार सोमदेव निराकार आनन्द-धारा हैं और साथ ही साकार दिव्य पुरुष भी हैं। वेद में दूसरे देवताओ के भी इस प्रकार दो रूप हैं, जैसे अग्नि जगत् की सब वस्तुओं के अन्तस्तल में है और जो बाह्य जगत् में ज्योति-रूप से प्रगट है वही मनुष्य के हृदय में तपस्या की शिखा-रूप, भक्तिमुखी आकांक्षा और दिव्य इच्छाशक्ति रूप से भी विराजित है साकार (Personal) अग्नि भी देवता-रूप से मौजूद है। यज्ञ द्वारा मनुष्य देवताओं की उन्नति करे इसका निगूढ़ अर्थ यही है कि मनुष्य में जो सकल दिव्य-शक्ति लुप्त है उसको आत्मोत्सर्ग द्वारा पुष्ट और विकसित किया जाय। वेद में एक बात प्रायः मिलती हैं—"*देवाना जन्मानि।*" इसका अर्थ यही है कि जगत् में विभिन्न भागवत धर्म (Divine principles.) और भागवत शक्ति का प्रकाश विशेषतः मनुष्य में विभिन्न रूप से भगवान् का ही प्रकाश है। मूलतः मनुष्य में भागवत सत्ता है और वह भगवान् ही का अंश है किन्तु मनुष्य के देह, प्राण, मन एक साधारण क्रिया के अज्ञान में अपूर्ण और विकृत हैं।

अधोगामी प्रकृति की सकल विकृत क्रियाओं को रूपान्तरित कर दिव्य सत्य, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द की क्रिया में विकसित करना होगा। इसके लिए मनुष्य में विभिन्न देवरूप से जो भगवान् का आविर्भाव होता है उसी को वेदों ने "देवताओं का जन्म" कहा है। प्रत्येक विशेष स्तर के विशेष धर्म के देवता हैं—मन-बुद्धि का देवता इन्द्र, इच्छा शक्ति का देवता अग्नि, आनन्द का देवता सोम है। जब हम भगवान् के चरण में सम्पूर्ण भाव से आत्मोसर्ग कर, दिव्य जीवन लाभ की तीव्र आकांक्षा रूप प्रज्वलित अग्निशिखा में काम क्रोधादि नीच प्रकृति की आहुति देते हैं तब हम में देवगण अर्थात् सकल भागवत शक्ति संवर्धित होती है, और यह सकल शक्ति हमारे जीवन को दिव्य बना कर परम श्रेय लाभ कराती है।

*"परस्परं भावयन्तः"* एक दूसरे को संवर्धित करने की बात से गीता इस प्रकार एक गम्भीर विश्व सत्य का निर्देश करती है। इस आदान-प्रदान द्वारा समस्त विश्व का व्यापार चलता है। यही यज्ञ-क्रिया देव, मानव, प्राणी, उद्भिद् जड़ सभी के बीच चल रही है। आधुनिक विज्ञान ने जड़ जगत् के जिस सूक्ष्मतम उपादान विद्युत्कण (Electron) का पता पाया है वे भी एकाकी नहीं रह सकते। परस्पर आदान प्रदान और संगठन द्वारा ही उनका समस्त प्राकृतिक व्यापार चलता है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा परस्पर आकर्षण द्वारा ही ठहरे हुए हैं, नहीं तो यह

विश्व एक मुहूर्त में ही चूर्ण हो जाय। मेघ से समुद्र और समुद्र से मेघ बनता है। मिट्टी जल-वायु से उपादान संग्रह कर वृक्ष-लता जीव-जन्तु के लिए आहार उत्पन्न करती है। यही प्रवर्तित जगत्-चक्र है। मानव समाज की भित्ति भी आदान-प्रदान है। जनक-जननी के आत्मदान से सन्तान की सृष्टि होती है और सन्तान में ही वे अपना नूतन जन्म प्राप्त करते हैं। जब हम किसी के लिए शुभ कामना करते हैं तो उसके शुभ के साथ साथ हमारा भी शुभ होता है। मानव-समाज में जब इस आदान-प्रदान की नीति चरमोत्कर्ष प्राप्त करेगी तभी पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की प्रतिष्ठा होगी। आज स्वार्थसाधन के लिए जो विपुल प्रयास मनुष्य करता है उस स्वार्थचिन्ता को भूल कर दूसरों के लिए जब ऐसा ही प्रयास करेगा तब किसी को किसी बात का अभाव नहीं रहेगा, इस संसार से सकल दुःख-द्वन्द्व सदा के लिये दूर हो जायगा और यहाँ होगा सर्वत्र प्रेम का राज्य। भूतल पर प्रेम-शान्ति, आनन्द-राज्य—'*राज्यं समृद्धम्*'—स्थापन करना ही गीता-शिक्षा का निगूढ़ लक्ष्य है।

गीता ने उच्चतम आध्यात्मिक आदर्श का पता दिया है और दिव्य जीवन प्राप्त करने का मार्ग दिखाया है; इसीलिए निम्न स्तर के बाह्य अनुष्ठानों को छोड़ दिया गया है। किन्तु निम्न अधिकारियों के लिए इन बाह्य अनुष्ठानों की बड़ी उपयोगिता है। जो लोग अपने सुख की खोज में दौड़ धूप करते रहते

हैं, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों का सर्वनाश भी करने के लिए उद्यत रहते हैं वे घोर पापी—*"अघायुरिन्द्रियारामः"* हैं। इस स्तर से ऊपर उठने के लिए यथार्थ कर्म की नीति का अवलम्बन करना होगा। देवताओं को अर्पण कर जो कामोपभोग किया जाता है वह उच्च स्तर का है और वह निरी काम-परायणता नहीं है जिससे ऊपर उठकर कामना और आसक्ति का परित्याग कर सकल कर्म करने होंगे और ऐसे ही कर्मों के द्वारा श्रेष्ठ गति प्राप्त होगी—*"परमाप्नोति पुरुषः।"* गीता ने इसी अन्तिम कथित कर्म की शिक्षा दी है। इसी प्रकार के कर्म भी यज्ञ कहे जा सकते हैं और गीता के मत से वे ही श्रेष्ठ यज्ञ हैं। साधारण यज्ञ में अपनी वासना कामना की सिद्धि के लिए विभिन्न देवताओं की हम अर्चना करते हैं। किन्तु क्रमशः देवताओं के लिए यज्ञार्थ कर्म करते करते हमारे अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान-वृद्धि होती है। क्रमशः हमको यह अनुभव हो जाता है कि व्यक्तिगत् भाव से हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है। हम कुछ नहीं करते, प्रकृति ही सब कुछ करती है। विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी कर्म होता है वह समस्त प्रकृति द्वारा सम्पादित महायज्ञ है। इस यज्ञ के फलभोक्ता हम नहीं। उस यज्ञ के एकमात्र भोक्ता भगवान् हैं—*"अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।"* हम और हमारी मूलसत्ता भगवान् के साथ हमारी प्रकृति विश्व की प्रकृति का एक यन्त्र वा आधार

है। हमारे भीतर प्रकृति नाना कर्म रूप यज्ञ करती है, भगवान् उसके फल को भोगते हैं—ऐसा जब हमको अनुभव वा ज्ञान होगा तभी हमारा श्रेष्ठ यज्ञ होगा—

*श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।*
*सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥*

गीता ने वैदिक यज्ञ का इस प्रकार गूढ़ उदार और विस्तृत अर्थ किया है। बाह्य यज्ञ से आरम्भ कर, यज्ञ के द्वारा शुद्ध मुक्त होकर क्रमशः श्रेष्ठ यज्ञ अर्थात् ज्ञान यज्ञ से परम गति प्राप्त होती है—

*सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।*
*यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥*

अतएव गीता-शिक्षा में परे बाह्य याग-यज्ञ के अनुष्ठान को वर्जित नहीं किया गया—गीता केवल स्थान और उपयोगिता दिखती है। जब तक मनुष्य नीचे के स्थान में रहता है तब तक इन्द्रियों से ताड़ित बाह्य विषयों के पीछे दौड़ता फिरता है। अन्तर्मुख होने का अनभ्यासी न उसकी क्षमता, न आत्मा का पता लगा सकता है और न आध्यात्मिक तत्त्व समझने में समर्थ होता है। तब उसको अपनी इन्द्रिय-लालसा बाह्य यज्ञ द्वारा नियमित और संयमित करनी होती है। केवल स्वार्थ के लिये समस्त कर्म न कर देवताओं के लिए पूजा-रूप से कुछ त्याग

कर देवताओं के प्रसाद-रूप से किया है। इस प्रकार क्रमशः शुद्ध होकर ज्ञान-प्राप्ति होती है। तभी इस बाह्य यज्ञ के अन्तर में जो निगूढ़ सत्य छिपा हुआ है उसका वास्तविक मर्म समझ में आता है और तभी मनुष्य अमृत का अर्थात् दिव्य आनन्द का अधिकारी होता है।

यदि इन्द्रिय-परायणता को संयत करने के लिये ही केवल उपाय स्वरूप वैदिक यज्ञयागादि का गीता उपदेश करती तो उसकी शिक्षा सार्वजनीन न हो पाती। परन्तु गीता ऐसा नहीं करती। गीता तो केवल यही करती है—"*नियतं कुरु कर्मत्वं*" "*नियतं*" अर्थात् इन्द्रियों से ताड़ित होकर बेसिलसिले काम न कर किसी उच्च आदर्श विधि और धर्म का अनुसरण करते हुए कर्मसमूह को नियमित और संयत करना चाहिए। वैदिक यज्ञानुष्ठान नियत कर्म का एक दृष्टान्त मात्र है जिस व्यक्ति को वेद का कुछ पता ही नहीं और न कभी यज्ञयागादि करता है वह देश-हित के लिए यदि स्वार्थ-त्याग कर, दरिद्र, आर्त और सर्व भूतों की सेवा स्वीकार करे और उच्च आदर्श का अनुसरण कर अपने समस्त कर्मों को संयत और नियमित करे तो वह" "नियत कर्म" करने वाला ही है। क्रमशः इस प्रकार नियत कर्म करने से चित्त की शुद्धि हो जाती है और तब सकल कर्म को किसी विशेष शास्त्र-धर्म व आदर्श से नियमित करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब मनुष्य सकल धर्माधर्म और

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ऊपर उठ जाता है और स्वयं भगवान् साक्षात् भाव से उसके सकल कर्मों को नियमित करते हैं। इस अवस्था में हमारे समस्त कर्म और उनके फल भगवान् को सम्पूर्ण भाव से समर्पित होते हैं और हमारा यज्ञ भी तभी पूरा होता है।

उपनिषद्-युग में इस दल के लोग बाह्य यज्ञयागादि कर्म को प्रधान मान कर उनका अनुष्ठान करते थे और दूसरे दल वाले कर्म का परित्याग कर संसार छोड़ ज्ञान को प्रधान मान कर उसकी आलोचना में लग जाते थे। किन्तु इन दोनों में एक भी वेद का प्रकृत आदर्श नहीं था। वेद बाह्य यज्ञयागादि की शिक्षा देकर निश्चिन्त नहीं हो जाते और न आध्यात्मिक ज्ञान को चरम वस्तु मान कर ग्रहण करते है। उच्च आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश किस प्रकार हमारे समस्त जीवन और कर्म को आलोकित करे—भगवान् के दिव्य गुण, दिव्य शक्तियों (ये ही देवता हैं) की आराधना कर मनुष्य में उनका विकास हो और देव-जीवन लाभ कर इस लोक में ही अमृत का आस्वाद प्राप्त कर सके इसी बात की व्यावहारिक शिक्षा देना वेद का निगूढ़ लक्ष्य है। वे इस महान् आदर्श का अनुसरण कर गीता ने अपूर्व योग साधन के रहस्य का प्रचार किया है।

# उपनिषद् और गीता

दर्शनशास्त्र के दुस्तर समुद्र को पार किये बिना यदि भगवान् की प्राप्ति न हो सके तो ऐसी चेष्टा को अति दुःसाध्य समझ कर अनेक लोग हताश होकर उसे छोड़ देंगे। समाज में मनुष्य मनुष्य में जो मधुर सम्बन्ध है भगवत्-प्राप्ति के लिए यदि उसका त्याग करना पड़े और संसार में कर्म करने से जो अपार आनन्द मनुष्य को मिलता है उसको छोड़ कर किसी निर्जन आश्रय में श्री गुरु के चरण-कमल के पास बैठकर यदि ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी उच्च तत्त्व की शिक्षा प्राप्त करनी पड़े, अथवा आँख मूँद कर ध्यान में बैठना पड़े और निश्चल निर्विकल्प समाधि की साधना करनी पड़े* तो अधिकांश मनुष्य इस पथ को दूर से ही नमस्कार कर बैठेंगे—और इसमें कोई अस्वाभाविकता भी नहीं। अथ च सांख्य, पातञ्जल, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रों ने मनुष्य को यही पथ दिखाया है। गीता भी कहती है—भगवत्-प्राप्ति का यही पथ है इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु देहधारी मनुष्य के लिए यह पथ बड़ा कष्टप्रद है—'*गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते*'। इसके अतिरिक्त सुख का मार्ग भी

---

*आचार्य शकर ने इस शिक्षा का विशेष रूप से प्रचार किया है—

नैव धर्म्मी न चाधर्म्मी न चैव हि शुभाशुभी ।
य स्यादेकासमे लीनस्त ष्णी किञ्चिदचिन्तयत् ॥

है, वह भी सनातन पथ है—'सुसुखं कर्तुमव्ययम्'। इसी पथ को दिखा देना गीता का उपदेश है।

यह पथ क्या है? निर्गुण, निराकार, विश्वलीला से अतीत, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म में मनोभिनिवेश करना अतिशय कठिन है। किन्तु सबके ऊपर जो भगवान् पुरुषोत्तम हैं वे लीलामय परम पुरुष हैं। समस्त जगत् की लीला का वे ही परिचालन करते हैं, और वे ही उपभोग करते हैं। वे प्रत्येक के हृदय के बीच में विराजमान होकर हमारे भीतर ही रह कर जीवन-लीला का आस्वादन करते हैं। इन्हीं पुरुषोत्तम के साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा और ज्ञानपूर्वक उनकी लीला का साथी बनकर जीवन के दिव्य आनन्द का उपभोग करना होगा। यही परम-गति है। इस गति को प्राप्त करने के लिए और कुछ नहीं, केवल दिव्य जीवन-लाभ की एकान्त आकांक्षा चाहिए और सम्पूर्ण भाव से हृदिस्थित पुरुषोत्तम को अपने को समर्पण कर गुरु-रूप, पिता-रूप, सखा-रूप, प्रियतम-प्रेमास्पद-रूप सर्व भाव से उसी की उपासना करनी होगी। इसके उपरान्त जो कुछ भी करना होगा वे स्वयं कर देंगे—"अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः"।

गीता का कहना है कि यहाँ परम सुख के जिस पथ का सन्धान है वह कोई नवीन पथ नहीं है, पुराना ही है। केवल काल-क्रम से इस लोक में वह नष्ट हो गया है—"*स कालेनेह महता*

ग्गो नष्ट: ।" यही सनातन पथ है । इस बात को दिखाने के लिए कि यही सनातन पथ है गीता ने सकल आध्यात्मिक शास्त्र का मूल और सनातन समस्त सत्य के आकार वेद और उपनिषद् की शरण ली है। सकल शास्त्रों के सार का संग्रह कर गीता ने उसी पर ज्ञान-कर्म-भक्ति-समन्वय योग की प्रतिष्ठा की है। गीता केवल तत्त्व-संग्रह का ग्रन्थ नहीं है, इसीलिए दार्शनिक तत्त्व की आलोचना गीता में कहीं अधिक देखने को नहीं मिलती। भगवत् प्राप्ति और दिव्य जीवन लाभ करने के जिस पथ को गीता ने दिखाया है उस पथ को लोग समझ सकें और उसका अवलम्बन कर सकें, इसी उपदेश से गीता में सब शास्त्रों का सार-संग्रह किया गया है। गीता ने स्पष्ट इस बात को स्वीकार किया है कि वेद उपनिषद् आदि विराट् शास्त्र-समूह की आलोचना करते करते मनुष्य का मन विक्षिप्त और विरक्त हो जाता है— श्रुतिविप्रतिपन्ना। गीता ने बिल्कुल स्पष्ट कहा है कि जिस व्यक्ति के अन्तर में ज्ञान का प्रदीप प्रकाशित हो गया है—"*ज्ञान-दीपेन भास्वता*" वह शब्द ब्रह्म के अर्थात् वेद के पार हो गया है; जिसको अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई है, "*ब्राह्मणस्य विजानतः*", उसके लिए *सर्वेषु* वेदेषु अर्थात् सकल वेदों और उपनिषदों से उसका कोई प्रयोजन नहीं है। वेदादि शास्त्र भीतर के ज्ञान को प्रकाशित करने में सहायक मात्र हैं। इस भीतर के ज्ञान-प्रदीप को प्रज्वलित करने के लिए जितने तत्त्व की सहायता की आव-

श्यकता थी गीता ने उन्हीं को समस्त शास्त्रों का मन्थन कर सार रूप से मनुष्य के सामने रख दिया है।

गीता को उपनिषद् कहा गया है किन्तु वास्तव में गीता उपनिषद् नहीं है। वैदिक युग के बाद उपनिषद् का युग आया और उसके बहुत काल के बाद गीता की रचना हुई है। गीता की रचना-प्रणाली और समझाने का ढंग उपनिषद् से भिन्न है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उपनिषदों की तरह गीता भी प्रमाण मानी गई है। भारत के परवर्ती सकल दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदाय अपने अपने मत की प्रतिष्ठा गीता के आश्रय पर करते हैं। तथापि वस्तुतः गीता वेद, उपनिषद् आदि श्रुति-शास्त्र के अन्तर्गत नहीं है।

उपनिषद् क्या है? वेद के शेषांश का नाम उपनिषद् है इसीलिए उसको वेदान्त भी कहते हैं। भारत के प्राचीन ऋषि-गणों ने साधन के बल से जो सत्य-समूह की प्राप्ति की थी उसी को वे मन्त्र रूप से गूथ कर छोड़ गये हैं। इस मन्त्र-समूह का नाम ही वेद है। ऋषियों ने इस सत्य की सृष्टि नहीं की थी। सत्य तो अपौरुषेय, नित्य, सनातन है वह चिरकाल से है और सदा रहेगा। ऋषि तो केवल उस सत्य के मुखपात्र या प्रकाश यंत्र हैं। सत्य का वाङ्मय विग्रह और दिव्य वाणी साधक ऋषियों ने ध्यान द्वारा देखा और सुना था। इसीलिए वे मन्त्र-द्रष्टा कहलाए और जिस ज्ञान को उन्होंने प्राप्त किया उसका

नाम श्रुति हुआ। वेद के संगृहीत मन्त्रों के कालक्रम से चार भाग हुए हैं—ऋग्, साम, यजु और अथर्व। प्रत्येक वेद के साधारणतः दो अंश हैं, एक संहिता और एक ब्राह्मण। संहिता है मूल वेद या मन्त्र-समष्टि और ब्राह्मण है मूल मन्त्र का भाष्य या व्याख्या या नवीन संस्करण। वेद के मूल मन्त्र में हम देखते हैं कि स्थूल रूपक और उपमाओं के द्वारा आध्यात्मिक जगत् के सत्य-समूह को प्रकाशित किया गया है और इस सकल जगत के सत्य का अवलम्बन कर इस जीवन को किस प्रकार बनाना चाहिए, यह यज्ञादि बाह्य प्रतीक के द्वारा स्थूल भाव से समझा दिया गया है। कालक्रम से वेद के भीतर जो गूढ़ आध्यात्मिक बात है उसको लोग भूल गये हैं और उनकी दृष्टि में केवल कर्मकाण्ड ही प्रधान हो गया। ब्राह्मण में इस कर्मकाण्ड को ही विशद रूप से समझाया गया है और ब्राह्मण के शेष भाग में वेद की गूढ़ आध्यात्मिक सम्पत्ति की ओर जो जोर दिया गया है वही उपनिषद् है। वेद के यज्ञ यागादि कर्मों को उपनिषद् नीचा स्थान देते हैं। वेद के बाह्य यज्ञ यागादि पर ब्राह्मण ने जोर दिया है इसीलिए ब्राह्मण वेद का कर्मकाण्ड माना जाता है। और वेद का जो भीतरी मूल तत्त्वज्ञान है उसको उपनिषदों ने पकड़ा है इसलिए उपनिषद् को वेद का ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। वेद की शिक्षा को लेकर कालक्रम से कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में विरोध हो गया उसका गीता

ने किस प्रकार समाधान किया है यह हम पहले देख चुके हैं। उपनिषद् अर्थात् वेद के ज्ञानकाण्ड से गीता ने आध्यात्मिक तत्त्वसमूह को किस प्रकार ग्रहण किया है इसी बात को संक्षेप से दिखाने का यहाँ प्रयोजन है। स्थूल रूप से यह बात हम पहले ही कह सकते हैं कि गीता का समस्त तत्त्व उपनिषद् से लिया गया है और उसी तत्त्व को गीता ने नवीन भाव से युगोपयोगी बना कर प्रकाशित किया है। इस तत्त्व के अनुसार जीवन को कार्यतः किस प्रकार गढ़ना चाहिए इसी बात का गीता ने विशद उपदेश दिया है। दर्शनशास्त्र मानसिक बुद्धि द्वारा विचार और तर्क कर सत्य को समझने और समझाने की चेष्टा करता है। उपनिषद् की प्रणाली इससे भिन्न है। उपनिषद् दर्शनशास्त्र नहीं, वह तो श्रुति या वेद है। उपनिषद् के ऋषियों ने अन्तर्दृष्टि से सत्य को जैसा देखा था अति संक्षिप्त और पैनी भाषा में उसी सत्य का प्रकाश किया है। वह भाषा सत्य का वाङ्मय रूप है। जिनके हृदय मन प्रस्तुत हो गए हैं उनका अज्ञान का आवरण इस भाषा के दिव्य स्पन्दन से दूर हो जाता है और उनके भीतर इस सत्य की प्राप्ति होती है और वे धन्य हो जाते हैं। आजकल लोगों को शास्त्र-वाक्य में श्रद्धा नहीं रही है। वे प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही सत्य को जानना चाहते हैं। किन्तु हमारी चक्षु कर्णादि ज्ञानेन्द्रियाँ हमको धोखा देती हैं। अनुमान और युक्ति में भी पद पद पर भ्रम की

संभावना बनी रहती है। आधुनिक विज्ञान बड़े यत्न से अपने अनुमानों की परीक्षा करता है और कड़ी जाँच के बाद उनका प्रत्यक्ष से मिलान करता है, तो भी पूर्ण रूप से ब्रह्म की निवृत्ति करने में वह असमर्थ है। और वे सब पदार्थ जो इन्द्रियों के लिए प्रत्यक्ष नहीं हैं, और जहाँ अनुमान का मिलान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता वहाँ अनुमान को सत्य के प्रमाण रूप ग्रहण करने से कुछ बनता नहीं। इसीलिए भारत में अध्यात्म विषय में श्रुति को श्रेष्ठ प्रमाण मानकर ग्रहण किया गया है। श्री चैतन्य ने कहा है—

*स्वतःप्रमाण वेद प्रमाण-शिरोमणि।*

सूर्य जैसे स्वयं प्रकाश है उसको देखने के लिए दूसरे प्रकाश का प्रयोजन नहीं, श्रुतिवाक्य भी उसी प्रकार अपना प्रमाण आप ही है। उसके श्रवण मात्र से हमारे भीतर उसकी सत्यता अपने आप ही प्रगट होती है। उपनिषद् के ऋषियों ने जब कहा—

*शृण्वन्त विश्वे अमृतस्य पुत्राः।*

अथवा

*वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्*
*आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।*
*तमेव विदित्वातिमृत्युमेति*
*नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥*

तब हमारे लिए सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता कि हम अमृत पुत्र हैं और ऋषि जिस महान् पुरुष को जान गए थे उसको प्राप्त करने से ही हम मृत्यु को पार कर जायँगे।

इस प्रकार कविता का प्रकृत स्वरूप ही मन्त्र होता है, और कवि शब्द का अर्थ होता है द्रष्टा। वह सत्य का साक्षात् भाव से दर्शन करता है और छन्द वेदवाक्य के स्पन्दन के द्वारा दूसरों को भी उस सत्य की साक्षात् अनुभूति करा देता है किन्तु इस प्रकार मन्त्रोपलब्धि के लिए पहले योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। यदि किसी अशिक्षित आदमी से कहा जाय कि आकाश में इस समय जो नक्षत्र दिखाई देते हैं, लाखों वर्ष पूर्व वे वहीं थे और उनके प्रकाश को हम तक पहुँचने में इतना काल लग गया है—तो क्या वह इस बात को समझ सकेगा? परन्तु जो लोग वैज्ञानिक सत्य की आलोचना करने में अभ्यस्त हैं उनके लिए इस बात को समझने में कुछ भी कष्ट न होगा। इसी प्रकार आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति के लिए भी शिक्षा और साधना की आवश्यकता होती है। भारत में इसी शिक्षा का नाम ब्रह्मचर्य है। इस शिक्षा के द्वारा शुद्ध और बुद्ध होकर वेद और उपनिषद् की सहायता से ब्रह्म को जाना जाता है और यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। जो लोग बुद्धि और विचार द्वारा दार्शनिक तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उपनिषद् की रचना उनके लिए नहीं की गई है।

किन्तु जो साधकगण वेद-वेदान्त की भावधारा से परिचित हैं और जिन्होंने स्वयं भी जीवन में सत्य की कुछ उपलब्धि की है उनके सम्मुख ज्ञान का भण्डार खोल देना ही उपनिषद् का लक्ष्य है। अतएव उपनिषद् की विचार-धारा का धारावाहिक विकास नहीं किया जा सकता, जो सकल सत्य का सन्धान देता है उसका विशद भाव-विवेचन नहीं हो सकता। उपनिषद् में सब बातें केवल संकेत से कही गई हैं। पाठक वा श्रोता को इस संकेत के अनुसार स्वयं सत्य को प्राप्त करने की चेष्टा करनी होगी, अपने अनुभव को उपनिषद् के अनुभव से मिला कर देखना होगा। तब उनको अपनी अनुभूति का समर्थन उपनिषद् में मिलेगा। इस प्रकार सत्य से सत्य में और प्रकाश से प्रकाश में वह अग्रसर होगा। उपनिषद् का साधारण लक्ष्य यही है। किन्तु वर्तमान युग के लोगों के लिए इस प्रकार की शिक्षा उपयोगी नहीं है। वर्तमान काल वैदिक और वैदान्तिक ऋषियों की अन्तर्दृष्टि को खो बैठा है और अब मानसिक बुद्धि और विचार का ही उसे प्रधान अवलम्बन रह गया है। इसी कारण आजकल आध्यात्मिक शास्त्र 'फिलासॉफी' (Philosophy) को दर्शनशास्त्र का स्वरूप दे दिया गया है। अब आध्यात्मिक तत्त्व का परिचय मनुष्य के लिए पहले विचार-तर्क द्वारा देना होगा जिससे मनुष्य विचार और बुद्धि के द्वारा उसको समझ सके। गीता के अधिक

भाग में इसी धारा का अवलम्बन किया गया है। यह तो ठीक ही है कि गीता की शिक्षा की भित्ति आध्यात्मिक दृष्टि से प्राप्त और सत्य है, किन्तु गीता उपनिषद् की तरह आप्त वाक्य का साक्षात् प्रकाश नहीं है। उसमें युक्ति-तर्क की सहायता से वक्तव्य बात को शिष्य के बुद्धिगोचर करने की चेष्टा की गई है इसी कारण वेद और उपनिषद् की तरह गीता की गणना वस्तुतः श्रुति में नहीं हो सकती। तथापि गीता के वाक्य में भी मन्त्रशक्ति निहित है। गीता के सिद्धान्त युक्ति-तर्क पर प्रतिष्ठित हैं किन्तु उनका वर्णन ऐसी कवित्वमय भाषा में हुआ है कि वे सब स्वतःसिद्ध सत्य की नाईं हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। इसीलिए हिन्दुओं के लिए गीता नित्य पाठ्य है। जगत् के साहित्य में ऐसा दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता जहाँ सकल दार्शनिक तत्त्वों को कवित्व के साथ इस प्रकार प्रकाशित किया गया हो जैसा कि गीता में है। गीता में विश्वरूप का वर्णन अनिर्वचनीय सत्य को भाषा के द्वारा प्रकाश करने का एक आश्चर्यमय निदर्शन है। गीता पढ़ते-पढ़ते अर्जुन की तरह बार बार यही कहने की इच्छा होती है—

*सर्व्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।*

"हे केशव! आप मुझसे जो कहते हैं वह सब सत्य है ऐसा कहने को जी चाहता है।"

*भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।*

"फिर सुनाइए आपके अमृतमय वाक्य सुनकर मुझे और किसी से तृप्ति नहीं होती है।"

फिर, गीता सकल सत्य को सम्यक् प्रकार से परिस्फुट करने की चेष्टा नहीं करती और यह सम्भव भी नहीं है। गीता में जैसे सब सत्य को संकेत से इङ्गित किया है उसके अनुसार परवर्ती युग में नई नई साधन-प्रणालियों का जन्म हुआ है। गीता का जो श्रेष्ठ रहस्य है—"*उत्तमं रहस्यम्*"—वह गीता ने कहीं भी परिष्कार से नहीं बताया, केवल उसका इशारा करके छोड़ दिया है। साधकगण को अपने जीवन में साधन द्वारा उसको पूर्ण रूप से प्राप्त करना होगा। गीता का वस्तुतः वेद का शेषांश वा उपनिषद् के अन्तर्गत न होते हुए भी इतना अधिक सम्मान है कि उसकी गणना तेरहवें उपनिषद् की तरह की जाती है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में ये शब्द आते हैं—"*श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु।*" यह संकल्प मूल भारत में नहीं है। जब नित्य पाठ के लिए गीता महाभारत से अलग की गई तभी से मालूम होता है कि यह संकल्प प्रचलित हुआ। उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है इसीलिए '*गीतम्*' न होकर '*गीता*' हुआ।

गीता के अनेक स्थलों में उपनिषद् से शब्द-सादृश्य मिलता है और गीता का कोई कोई श्लोक या श्लोकांश उपनिषद् से ज्यों का त्यों लिया गया है। दृष्टान्त के लिए देखिए उपनिषद् में

इस चराचर विश्व या जगत् को समझाने के लिए "*सर्व्वमिदम्*" बार बार कहा है गीता में भी उसका व्यवहार देखते हैं—"*मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाः इव*।" उपनिषद् में कहा गया है, "*सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म*"। गीता कहती है "*वासुदेवः सर्व्वम्*।" इस सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य में जो कहा है वह संक्षेप में यहाँ दिया जाता है। गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, अष्टम अध्याय में अक्षर-ब्रह्म-स्वरूप और त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार और विशेष कर '*ज्ञेय*' परब्रह्म का स्वरूप—ये सब विषय अक्षरशः गीता में उपनिषदों के आधार पर ही वर्णित हैं। कोई उपनिषद् गद्य में और कोई पद्य में रचित है। उनमें कोई गद्यात्मक उपनिषद् वाक्य पद्यमय गीता में ज्यों के त्यों उद्धृत करना सम्भव नहीं था, तथापि छांदोग्य आदि उपनिषदों का जिन्होंने पाठ किया है वे सहज ही समझ जाँयगे कि जो है सो है और जो नहीं है सो नहीं है (गी० २।१६), "*यं यं वापि स्मरन् भावम्*" (*गी०* ८।६) इत्यादि विचार छांदोग्योपनिषद् से और '*क्षीणे पुण्ये*', '*ज्योतिषां ज्योतिः*' और '*मात्राः स्पर्शाः*' इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक से लिए गए हैं। किन्तु गद्यात्मक उपनिषद् छोड़ कर पद्यात्मक उपनिषद् को यदि हम देखें तो गीता से साम्य अधिक और स्पष्ट मिलता है। कारण, इन पद्यात्मक उपनिषदों में से कोई कोई श्लोक भगवद्गीता में ज्यों के त्यों ले लिए गए

हैं। उदाहरण-रूप से, कठोपनिषद् के ६, ७ श्लोक अक्षरशः या बहुत थोड़े शब्दों के हेर-फेर से गीता में दिए गए हैं। गीता के द्वितीय अध्याय का "*आश्चर्यवत् पश्यति*" श्लोक कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली का आश्चर्यवक्ता ( २ । ७ ) श्लोक के समान है और "*न जायते म्रियते वा कदाचित्*"* (*गी० २ । २०*) श्लोक और "*यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति*" ( ८ । ११ ) ये श्लोकार्ध गीता और कठोपनिषद् में अक्षरशः एक ही हैं। "*इन्द्रियाणि पराण्याहुः*" वाला गीता का श्लोक कठोपनिषद् से लिया गया है। इस प्रकार गीता के पन्द्रहवें अध्याय में अश्वत्थ वृक्ष का रूपक कठोपनिषद् से और "*न तद्भासयते सूर्यः*" श्लोक कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों से थोड़े शब्दों को बदलकर लिए गए हैं, इसी तरह "*सर्व्वतः पाणि-पादम्*" श्लोक और उसके बाद का श्लोकार्ध गीता और श्वेता-श्वतर उपनिषद् में शब्दशः मिलते हैं, और "*अणोरणीयां*" और "*आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्*" पद गीता ( ८।९ ) और श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।८) में एक ही हैं। इसके अति-रिक्त गीता और उपनिषद् में शब्द-सादृश्य देखते हुए "*सर्व्व-भूतस्थयात्मानम्*" और "*वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यो*" ये श्लोकार्ध

---

* न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
कठोपनिषत् २ । १८

वैकल्पोपनिषद् में ज्यों के त्यों मिलते हैं। परन्तु इस शब्द-सादृश्य-सम्बन्ध में अधिक विचार करने का प्रयोजन नहीं क्योंकि गीता का वेदान्त उपनिषद् के आधार पर प्रतिपादित हुआ है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

किन्तु हमने पहले ही कहा है कि गीता उपनिषद् का केवल संक्षिप्त संकलन वा तत्त्वसंग्रह नहीं है। उपनिषद् से नाना तत्त्व ग्रहण कर उनके अनुसार गीता ने अपनी योग-प्रणाली की प्रतिष्ठा की है। उपनिषद् और दर्शन के भिन्न भिन्न तत्त्वों के बीच गीता ने एक समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित किया है और इसलिए गीता में कहीं कहीं इन सब तत्त्वों का विशद विवेचन कर उनको स्पष्ट समझाया गया है और एक नूतन तत्त्व की योजना की गई है। हमने पहले ही कहा है कि दर्शन-शास्त्र की तरह उपनिषद् विचार-युक्ति के ग्रन्थ नहीं हैं, इनमें तो सत्य का निर्देश केवल इङ्गित किया गया है और किसी विषय का विशद रूप से विवेचन करने की चेष्टा नहीं की गई है, इसीलिए हम देखते हैं कि एक उपनिषद् को भित्ति बना कर सांख्य, पातञ्जल आदि नाना मत और नाना दार्शनिक संप्रदायों की सृष्टि की गई है। "*वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः, नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्*", ऐसा देखकर मनुष्य की मन-बुद्धि स्वभावतः भ्रम में पड़ सकती है और वह हताश होकर दिव्य-जीवन-प्राप्ति की चेष्टा छोड़ बैठ सकता है। इसी-

लिए गीता का लक्ष्य यह रहा है कि इन सकल विभिन्न मतों के विरोध को दूर कर उनके बीच एक उदार समन्वय का स्थापन करना और उस समन्वय के ऊपर अपनी योग-प्रणाली की प्रतिष्ठा करना। इस समन्वय-साधन के लिए ही गीता ने प्रचलित दर्शन-शास्त्रों के पीछे जो उपनिषद्-समूह रहा है उसी का आश्रय लिया है और मूल उपनिषद् की शिक्षा को लेकर विभिन्न दार्शनिक मतों का सामञ्जस्य किया है। उपनिषद् ही मूल वेदान्त है और इसी वेदान्त की भित्ति पर गीता स्थित है। गीता का दार्शनिक मत मूलतः वैदान्तिक है। किन्तु इसी वैदान्तिक सिद्धान्त के आधार के भीतर रहते हुए गीता ने अन्यान्य मतों का जैसा उदार समन्वय किया है और जो समस्त आध्यात्मिक और दार्शनिक भारतीय सम्पदा का सार रूप है वैसा केवल गीता ही की शिक्षा में मिलता है।

गीता ने सांख्य का पुरुष, वेदान्त का ब्रह्म, योग का ईश्वर इन सकल तत्त्वों को स्वीकार किया है और इनमें पूर्ण समन्वय करने के लिए खास अपने पुरुषोत्तम-तत्त्व का विकास किया है। इस पुरुषोत्तम-तत्त्व का संधान उपनिषद् में है परन्तु वहाँ वह इङ्गित मात्र है, यहाँ तक कि ऐसा जान पड़ता है कि मानो उपनिषद् और गीता के पुरुष तत्त्व एक दूसरे के विरोधी हैं क्योंकि उपनिषद् ने दो पुरुष माने हैं और गीता ने तीन। गीता ने इन तीन पुरुषों का सन्धान कहाँ

पाया और उनके द्वारा ईश्वर-तत्त्व का कैसे समाधान किया, इस बात का पता लगाने से गीता की प्रणाली अच्छी तरह समझ में आ जायगी। हमने पहले ही कहा है कि गीता कहीं भी केवल दार्शनिक तत्त्व का समाधान करने के लिए तत्वालोचना नहीं करती। गीता ने जो साधारण प्रणाली बनाई है उसी की प्रतिष्ठा बताई है, विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों में समन्वय और सामञ्जस्य किया है। उपनिषद् और दर्शनशास्त्रों में ज्ञान पर अधिक जोर दिया है और कर्मत्याग, संन्यास और ज्ञान-चर्चा के भीतर ही आध्यात्मिक साधन की शिक्षा का प्रचार हुआ था। गीता ने यह दिखाया कि यह पथ अति दुरूह है। सकल-सम्बन्धविहीन, विश्वातीत, निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना साधारण देहधारी के लिए न सहज है और न सम्भव ही। इसी से गीता ने ज्ञान-पथ के साथ कर्म और भक्ति का योग किया है। भगवान् हमारे सकल सम्बन्धों के अतीत नहीं हैं, सकल संबंधों से अतीत निर्गुण अक्षर अवस्था भगवान् का केवल एक पहलू है, किन्तु इसके ऊपर जो अवस्था है वही पुरुषोत्तम अवस्था है। पुरुषोत्तम के साथ अति निगूढ़ सम्बन्ध है और इन सब सम्बन्धों में पुरुषोत्तम की उपासना ही श्रेष्ठ और सुखमय उपासना है। पुरुषोत्तम-तत्त्व ज्ञान द्वारा ही अवगत होगा, कर्म के द्वारा ही उसकी सेवा करनी होगी, भक्ति और प्रेम द्वारा उससे मधुर संबंध स्थापित करना होगा, गीता के मत से यही श्रेष्ठ योग और श्रेष्ठ

उपासना है। आध्यात्मिक तत्त्व के ऊपर इसी योग वा उपासना की प्रतिष्ठा के लिए गीता ने उपनिषद् के आधार पर पुरुष, ब्रह्म, ईश्वर प्रभृति तत्त्वों का समन्वय कर अपने पुरुषोत्तम-तत्त्व का विकास किया है।

सांख्य मत से मुक्त पुरुष श्रेष्ठ दिव्य सत्ता है। वहाँ न संसार, न प्रकृति। पुरुष अपनी सनातन अक्षर सत्ता में स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वेदान्त मत से निर्गुण ब्रह्म ही श्रेष्ठ सत्ता है और उसमें न जगत् है, न माया का खेल। सांख्य और वेदान्त दोनों ही के मत से इस शान्त, निर्गुण अक्षर अवस्था को प्राप्त करना और पूर्णतः कर्म और संसार का परित्याग करना, पुरुषार्थ है। सांख्य मत से प्रकृति पुरुष से स्वतन्त्र है। पुरुष की नीचे की बद्ध अवस्था में प्रकृति उससे युक्त हो जाती है। वेदान्त के मत से प्रकृति वा माया ब्रह्म का एक नीचे का खेल है अथवा एक मिथ्या स्वप्न है। ऊपर की अवस्था में उसका अस्तित्व ही नहीं है। योग के मत से प्रकृति ईश्वर की है और ईश्वर ही अपनी प्रकृति को लेकर संसार-लीला करता है। मनुष्य संसार-लीला छोड़कर नहीं जा सकता और न वह कर्म को छोड़ सकता है। तब ईश्वर की तरह मनुष्य को मुक्त और स्वाधीन भाव से संसार में लीला करनी होगी और इसीलिए कर्म साधना का अंग है और सिद्धि के बाद भी कर्म बना रहेगा। वेदान्त के मत से ईश्वर या सगुण ब्रह्म श्रेष्ठ सत्ता नहीं है, वह नीचे की

अवस्था है, निम्नाधिकारी के लिए कर्म ही उपासना है। श्रेष्ठ सत्ता तो निर्गुण ब्रह्म है और ज्ञान द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। गीता ने उपनिषद् के प्रकाश में इन सकल तत्त्वों का सामञ्जस्य किया है और इस समन्वय द्वारा गीता ने ज्ञान, कर्म और भक्ति को मिला कर एक पथ दिखा दिया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है—

*अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां,*
*बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।*
*अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,*
*जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ४।५॥*

अर्थात् लोहित, शुक्ल, कृष्ण इन तीन वर्णों की एक अजा ने बहुत सी प्रजा उत्पन्न की। एक अज उसका भोग करता है और दूसरे अज ने उसका पूर्णभाव से भोग कर छोड़ दिया है। यहाँ पर सांख्य के प्रकृत-पुरुष तत्व को एक अजा और दो अज की उपमा द्वारा समझाया गया है। तीन वर्ण की अजा सत्त्व, रजः, तमः गुणयुक्त प्रकृति है। प्रकृति चिरकाल से है, सकल विश्व सृष्टि का मूल है और वह कभी सृष्ट नहीं हुई। इसीलिए उसको अजा कहा गया है और पुरुष को जो अनादि, अनन्त, सनातन सत्ता है उसको अज कहा गया है। यहाँ दो अज द्वारा पुरुष की बद्ध और मुक्त अवस्था का निर्देश किया गया है। पुरुष जब प्रकृति के खेल में मग्न होता है, अज्ञानवश

प्रकृति के खेल को अपना खेल समझ कर संसार के सुख-दुःख का भोग करता है तब उसकी बद्धावस्था होती है। गीता कहती है—

*पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।*

पहला अज पुरुष की इस बद्ध अवस्था का दृष्टान्त है । भोग के अन्त में पुरुष ज्ञान-लाभ कर प्रकृति से अनासक्त हो जाता है तब प्रकृति उसके पास से चली जाती है, संसार-लीला बन्द हो जाती है और पुरुष मुक्त हो जाता है । दूसरा अज पुरुष की इस मुक्तावस्था का दृष्टान्त है । दोनों अज एक ही पुरुष की दो अवस्थाएँ हैं, एक बद्ध और दूसरी मुक्त; एक भोग की अवस्था दूसरी त्याग की; एक संसार की अवस्था और दूसरी स्वरूप अवस्था । 'पुरुष प्रकृति का भोग करता है' इसका अर्थ यह है कि प्रकृति की सर्जन-लीला, विश्व-लीला चलती है; और पुरुष भोग को अस्वीकार कर दे तब प्रकृति-लीला बन्द हो जाती है । किन्तु संसार में यह देखा जाता है कि एक मनुष्य के मुक्त होने से दूसरे मनुष्य मुक्त नहीं होते । एक पुरुष ज्ञान लाभ कर प्रकृति के खेल से मुख फेर ले तो संसार में प्रकृति का खेल बन्द नहीं हो जाता और न इस खेल का कहीं व्यतिक्रम होता दिखाई देता है । ज्ञानी व्यक्ति संसार त्याग कर चला जाय तब भी संसार जैसे चलता था वैसे ही चलता रहता है। यह बात कैसे सम्भव होती है? प्रचलित सांख्य ने इस समस्या का समाधान बहुपुरुष मानकर किया है । संसार में बहु जीव

हैं; बहु पुरुष हैं; कोई पुरुष ज्ञान लाभ कर मुक्त होता है तो उसके लिए प्रकृति की लीला संसार की लीला बन्द हो जाती है; किन्तु दूसरे अज्ञान के वशीभूत पुरुष प्रकृति के खेल में योग देते हैं और इसी प्रकार विश्व-लीला अनुपण भाव से चलती रहती है। प्रकृति-पुरुष के संयोग से विश्व-लीला चलती है, उसकी व्याख्या सांख्य ने जैसी की है गीता ने उसको स्वीकार किया है; और संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिए सांख्य का प्रकृति-पुरुष-भेद-ज्ञान जिसे उपाय रूप से सांख्य बताता है उसको भी गीता ने स्वीकार किया है। परन्तु गीता बहुपुरुष-वाद को स्वीकार नहीं करती। गीता का सांख्य वैदान्तिक सांख्य है। गीता के मत से पुरुष वा ब्रह्म—*'एकमेवाद्वितीयम्'* एक छोड़ दो नहीं। अगर ऐसा है तो एक ही पुरुष एक समय में मुक्त और बद्ध किस प्रकार हो सकता है? एक आदमी के मुक्ति-लाभ कर स्वरूपावस्था प्राप्त करने पर समस्त विश्व-लीला बन्द क्यों नहीं हो जाती? गीता का कहना है कि भगवान् में यह बात सम्भव है, एक ही समय में वे संसार-लीला में मग्न रहते हैं और साथ ही संसार-लीला से अतीत भी। उच्च स्तर में, ऊर्ध्व प्रतिष्ठा में वे संसार-लीला से मुक्त हैं, किन्तु साथ साथ उसी समय नीचे के स्तर में संसार-लीला में वे मग्न रहते हैं और वे ऊपर की शान्त, मुक्त, स्वप्रतिष्ठ अवस्था में रहते हुए नीचे की संसार-लीला का अवलोकन करते हैं और समस्त

लीला को धारण करते हैं । गीता के इस मत का समर्थन हमको मुण्डकोपनिषद् में मिलता है—

*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।*
*तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ॥*
*समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।*
*जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥*

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।१—२)

एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक सूत्र में बँधे चिर सखा हैं । उनमें से एक पक्षी वृक्ष के मीठे फल को खाता है; दूसरा स्वयं तो नहीं खाता किन्तु अपने संगी का निरीक्षण करता है । एक पक्षी अपनी शक्तिहीनता के कारण मुह्यमान अतएव शोकग्रस्त है । किन्तु प्रथम पक्षी जब दूसरे को देखता है और यह समझता है कि सकल महिमा उसी की है तभी वह शोकमुक्त हो जाता है । यहाँ पहला पक्षी है प्रकृति-अधिष्ठित पुरुष या बद्ध जीव; और दूसरा है चिरमुक्त, शान्त, अक्षर पुरुष जिसके द्वारा समस्त विश्व परिव्याप्त है । पहला जीवात्मा है, दूसरा परमात्मा । जीव संसार-भोग करता है, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होकर सबको धारण करता है, जीव की संसार-लीला देखता है, किन्तु स्वयं रहता है चिरमुक्त, विश्वलीला के अतीत । यह जीव परमात्मा से स्वतन्त्र नहीं है-परमात्मा और जीव मूलतः एक ही वस्तु हैं । परमात्मा जीव के ऊपर की सत्ता है, प्रकृति के

खेल से मुक्त होने पर जीव इसी ऊपर की सत्ता में लौट कर आ सकता है। जीव जब ज्ञान-लाभ करता है तो परमात्मा की जो महिमा दिव्य, मुक्त, शान्त, अक्षर भाव है और जो जीव का अपना स्वभाव है उसको प्राप्त होता है और तभी वह मुक्त होता है। जीव संसार-लीला में सुख-दुःख भोग करता है और जब उसको ऊपर परमात्मा का पता मिलता है तब वह संसार से परित्राण पाकर परमात्मा की शान्त, शुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। इन दो श्लोकों से श्वेताश्वतरोपनिषद् के श्लोक से भेद इतना ही है कि वहाँ मुक्त पुरुष प्रकृति का भोग कर छोड़ देता है और यहाँ मुक्त पुरुष (ऊपर की शाखा का पक्षी) कभी प्रकृति के खेल में बद्ध नहीं होता; वह चिरमुक्त है। केवल उसी के अंश-रूप बहु जीव नीचे आकर संसार-लीला भोग करते हैं और फिर ज्ञान-लाभ कर ऊपर उठ जाते हैं। यहाँ देखने की बात यह है कि एक ही पुरुष की एक ही समय में दो अवस्थाएँ हैं—एक ऊपर की एकत्व और मुक्ति की अवस्था और दूसरी नीचे की बहुत्व और बन्धन की अवस्था। उच्च अवस्था में पुरुष सदा ही मुक्त है; और निम्न अवस्था से कोई कोई जीव मुक्ति प्राप्त कर ऊपर की अवस्था में लौट जाता है। इसीलिए संसार में देखा जाता है कि एक ही समय में कोई मुक्त है तो कोई बद्ध है। पुरुष के इस द्विधाभाव, एक ही समय में दो अवस्थाओं द्वारा पूर्व समस्या के समाधान का कुछ

रास्ता मिलता है, किन्तु एक से अनेक कैसे हुए यह अभी नहीं समझाया गया ।

यह हम देख चुके हैं कि पुरुष की दो अवस्थाएँ हैं—प्रकृति-अधिष्ठित और मुक्त अवस्था । एक जगह कहा गया है कि पुरुष प्रकृति का भोग कर उसे छोड़ देता है और दूसरी जगह यह बताया गया है कि पुरुष एक ही समय में मुक्त रहता है और प्रकृति का भोग भी करता है। ऊपर की अवस्था मुक्ति और नीचे की भोग है। उपनिषद् के अन्यान्य अंशों के इशारे को लेकर गीता ने इन दो के साथ और एक तीसरी अवस्था की योजना की है। वही श्रेष्ठ अवस्था पुरुषोत्तम अवस्था है और यह विश्व-सृष्टि उसी की महिमा है। लीला की अवस्था क्षर और मुक्ति की अक्षर, किन्तु पुरुषोत्तम में इन दोनों ने एक साथ स्थान पाया है—विश्व-लीला और साक्षी की अवस्था ये दोनों पुरुषोत्तम के दो पहलू हैं । किन्तु पुरुषोत्तम इन दोनों के ऊपर है। वह एक ही समय में अक्षररूप से उदासीन द्रष्टा है और क्षररूप से प्रकृति को ग्रहण कर लीला करता है। पुरुष एक ही है परन्तु प्रकृति को ग्रहण कर वह बहु हो गया है। बहुत्व वा भेद पुरुष में नहीं है प्रकृति में है। एक ही पुरुष प्रकृति के भिन्न भिन्न अंशों को ग्रहण कर नाना जीव हुआ है—"*ममैवांशः जीवलोके जीवभूतः ।*" प्रत्येक जीव ही मूल सत्ता में एक अक्षर, सनातन पुरुष है, किन्तु प्रत्येक जीव अपने अपने स्वभाव या प्रकृति को ग्रहण कर बहु हो गया है।

पुरुषोत्तम की परा प्रकृति ही जीव हुई है। प्रकृति की विचित्रतामयी लीला के कारण भिन्न भिन्न जीव हुए हैं और उनकी अलग अलग शक्ति और स्वभाव हुए हैं। प्रत्येक जीव में भागवत शक्ति के एक एक अंश का विकास होता है और सकल जीवों के हृदय में विराजमान होकर पुरुषोत्तम ही सर्वत्र प्रकृति की इस विचित्र लीला का संचालन करता है। पुरुषोत्तम की यह विश्व-लीला बन्धन की लीला नहीं है वह ईश्वरभाव से प्रकृति का परिचालन कर लीला करता है—

*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।*
*हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥९।१०॥*

उपनिषद् से उद्धृत अंशों से हमने देखा कि पुरुष की सर्वोच्च अवस्था में संसार-लीला नहीं है, किन्तु गीता यह दिखाती है कि उच्चतम अवस्था में संसार-लीला भगवान् की मुक्त, दिव्य, स्वाधीन लीला है। मनुष्य अज्ञानवश बद्ध होकर दुःखमय संसार का भोग करता है, वह अहंकारवश देह, मन, प्राण को प्रकृति के क्षुद्र सीमावद्ध अंश को ही अपना सब कुछ मान कर उसको पकड़े रहना चाहता है। इसी से उसको दुःख और अशान्ति मिलती है। किन्तु हमारे स्वभाव के द्वारा जो लीला का विकास होता है उसका भोक्ता है हमारे हृदिस्थित पुरुषोत्तम। हम मूल सत्ता में उसके साथ एक हैं, केवल लीला के लिए उसकी परा प्रकृति ने हमारी नाना रूप से सृष्टि की है। इसी

पुरुषोत्तम को अपना प्रियतम जान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण करने से हमारे जीवन और प्रकृति का पूर्ण विकास होगा और हम पुरुषोत्तम-भाव प्राप्त करेंगे। तब हमारे भीतर अक्षर पुरुष की अचल शान्ति, अनन्त ऐक्य, अविकल्प साम्य स्थापित होंगे और बाहर हमारी प्रकृति के द्वारा दिव्य, स्वाधीन, मुक्त जीवन-लीला, दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति और दिव्य आनन्द प्रगट हो जायँगे। इसी बात को गीता ने कहा है, *"ममसाधर्म्यमागताः मयैव निर्वासिष्यास"* इत्यादि।

अब हम गीता के समन्वय को समझ सके। वेदान्त की दृष्टि से विश्व-लीला माया का खेल है। इस माया को अतिक्रम कर पर-ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करना होगा। वहाँ न माया है, न संसार है। देव, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सब ब्रह्म की नीचे की अवस्थाएँ हैं। सर्वोच्च अवस्था में ब्रह्म निर्गुण है। सांख्य बताता है कि प्रकृति पुरुष को अज्ञान बनाकर संसार का खेल उत्पन्न करती है और गीता कहती है कि यह माया वा अज्ञान नीचे की त्रिगुणमयी प्रकृति का खेल है और इसका स्वरूप है वासना और अहंकार। वासना और अहंकार के वश में रह कर मनुष्य अपने जीवन का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। किन्तु माया का तो अतिक्रम करना होगा और अहंकार तथा वासना का नाश करना होगा। यह होने पर परा प्रकृति का खेल फूट निकलेगा, और यही दिव्य जीवन है। गीता के मत

से निर्गुण ब्रह्म या मुक्त पुरुष ही श्रेष्ठ सत्ता नहीं है, लीलामय पुरुषोत्तम ही पर-ब्रह्म है। साधना के द्वारा इस पुरुषोत्तम से युक्त होना, उसका साधर्म्य प्राप्त करना, उसके साहचर्य्य से दिव्य जीवन लीला का विकास करना यही श्रेष्ठ गति है। अतएव हम देखते हैं कि वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि द्वारा जो शिक्षा प्रचलित है उसका अतिक्रम करने में गीता कुण्ठित नहीं होती। वास्तव में यदि गीता इस प्रथा का अवलम्बन न करती तो उस समय में प्रचलित विभिन्न मतवादों के बीच समन्वय और सामञ्जस्य न कर पाती। फिर जिस पुरुषोत्तम-तत्त्व का गीता ने विकास किया है वैसा स्पष्ट रूप से अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता किन्तु उपनिषद् में कहीं कहीं उसका इशारा अवश्य मिलता है। उपनिषद् में अनेक स्थानों में कहा गया है कि परब्रह्म में सगुण और निर्गुण भाव एक साथ ही विद्यमान हैं, *निर्गुणो-गुणी*। मुण्डकोपनिषद् में यह वाक्य है—' *पुरुष अक्षरात् परतः परः*" अर्थात् यदि वह अक्षर से पर अर्थात् श्रेष्ठ है तो उसकी अपेक्षा भी एक श्रेष्ठ पुरुष और है।

उपनिषद् से लेकर जिस पुरुषोत्तम-तत्त्व का गीता ने उद्धार किया है उसका पूर्ण प्रभाव भारत के परवर्त्ती धर्म-जीवन में देखने को मिलता है। वेदान्त के अद्वैतवाद में भक्ति का स्थान नहीं है। वैदान्तिक अद्वैतवाद को हटा कर भारत में जो महान् भक्ति-योग का विकास हुआ है उसकी प्रतिष्ठा

गीता के पुरुषोत्तम-तत्त्व पर ही हुई है। भक्ति-प्रधान पुण्य-समूह की भित्ति गीता का पुरुषोत्तम-तत्त्व है। संसार-लीला यदि मिथ्या है, ब्रह्म और जीव में यदि कोई भेद नहीं तो फिर भक्ति का स्थान कहाँ रहा ? किन्तु जीव मूलतः पुरुषोत्तम के साथ एक होते हुए भी प्रकृति से वह भिन्न है। जीव पुरुषोत्तम का अंश मात्र है, परा प्रकृति का एक एक अंश एक एक जीव में प्रगट हुआ है। सकल जीवों के भीतर प्रकृति लीला करती हुई पुरुषोत्तम के ही दिव्य भोग का विकास करती है। पुरुषोत्तम हमारे हृदय के मध्य में विराजमान है और वहाँ रह कर वह विश्व-लीला का उपभोग करता है। पितारूप, पुत्ररूप, सखारूप, प्रियतम-प्रेमास्पदरूप से जो हम संसार-लीला करते हैं उन सब के बीच पुरुषोत्तम ही हमारी इस लीला का आस्वाद ग्रहण करता है और हमारे सकल यज्ञ-कर्म का फल भी वही भोगता है। जब जिस दिन हम उसकी ओर फिरेंगे तब तो उसी को पिता, माता, सखा, प्रियतम-प्रेमास्पद रूप से ग्रहण करेंगे और उसी दिन हम जीवन के प्रकृत मर्म को समझेंगे और हमारा जीवन अमृतमय हो जायगा। अपना ही आप प्रेम उपभोग करने के लिए प्रकृति को धारण कर पुरुषोत्तम असंख्य जीव हुआ है यही प्रेम भक्ति का मूल तत्त्व है।

गीता ने जिस महान् कर्म-योग की शिक्षा दी है उसकी भित्ति भी यही पुरुषोत्तम-तत्त्व है। यदि परम पुरुषार्थ

यही होता कि अक्षर पुरुष के भाव को प्राप्त हो निर्गुण ब्रह्म में लीन हों तो कर्म की कुछ सार्थकता नहीं और न जीवन का ही कोई अर्थ। कर्म एक प्रकार का बन्धन रह जाता जिसको जितना शीघ्र ही अतिक्रम किया जाय उत्तम बात होती। उपनिषद् में हम देखते हैं कि इस कर्म-संन्यास के प्रति अधिक जोर दिया गया है। इसीलिए उपनिषद् ने वैदिक यज्ञ, यागादि की निन्दा की है। प्रथम अवस्था में अज्ञानी के लिए कर्म उपयोगी हो सकता है, किन्तु मुक्ति के साधक के लिए कर्म छोड़ना ही पड़ेगा। उपनिषद् कहते हैं कि देवता मनुष्य की मुक्ति के विरोधी हैं, मानो मनुष्य देवता के लिए बछड़े के समान हैं। देवता नहीं चाहते कि मनुष्य ज्ञान-लाभ करे या मुक्त हो। भगवान् अक्षर ब्रह्म हैं, उनकी प्राप्ति कर्म के द्वारा नहीं हो सकती उनको तो ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। ऊपर जो दो पक्षियों का दृष्टान्त दिया गया है उसमें जब नीचे का पक्षी ऊपर के पक्षी को देख पाता है, अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है तभी वह ज्ञान-लाभ कर मुक्त होता है। उपनिषद् में सर्वत्र इस प्रकार हम ज्ञान के प्राधान्य को पाते हैं। किन्तु गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि कर्म के लिए समवेत हुए हैं—अर्जुन को महान् कर्म में प्रवृत्त करना गीता की शिक्षा का उद्देश्य है। गीता की शिक्षा किसी ज्ञान-साधक को नहीं दी गई; किन्तु एक क्षत्रिय को दी गई है। गीता ने दिखाया है

कि नीचे की प्रकृति के अज्ञान और अहंकार से मुक्त होने के लिए ईश्वरार्थ कर्म एक प्रधान सहायक है। गीता ने ज्ञान को छोटा करके नीचे नहीं गिराया। उसका कहना है सकल कर्म शेष होने पर ज्ञान में ही पहुँचा देता है–*"सर्व्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"*। किन्तु गीता के मत से ज्ञान-लाभ होने पर भी कर्म रहता है और वह है दिव्य कर्म। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम ने अपने जीवन में दिव्य कर्म का दृष्टान्त दिखाया है–

*न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।*
*नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३।२२॥*

प्राचीन वैदिक साधना में ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं था, कालक्रम से ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो गया है। वेदवादियों ने क्रियाविशेषबहुल याग, यज्ञादि का ही पुरुषार्थ साधक बता कर उसका प्रचार किया है। और दूसरे पक्षवाले ब्रह्मवादी गण ने ज्ञान को श्रेष्ठ स्थान दिया और उसके उत्कर्ष के लिए संसार और कर्मत्याग की उपयोगिता का प्रचार किया। उपनिषद् की इस शिक्षा के विशेष प्रभाव और विस्तार के कारण प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था का सामञ्जस्य नष्ट हुआ। जो ससार त्याग और संन्यास जीवन के अन्तिम भाग में बताया गया था वही मुख्य होकर गार्हस्थ्य आदर्श को नष्ट करता है। प्राचीन व्यवस्था थी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ

और अन्त में संन्यासी होने की। किन्तु संसार छोड़कर संन्यास ग्रहण करना ही मनुष्य मात्र का परम साध्य मान लिया गया; जितना शीघ्र सम्भव हो संन्यास ग्रहण करना वाञ्छनीय और प्रशंसनीय हो गया, *"ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा ( जाबाल )"*। किन्तु ज्ञानलाभ के बाद यदि संसार में कर्म करना सम्भव न हो, ज्ञानीगण को संसार त्याग यदि करना ही पड़े तो समाज की बड़ी हानि होगी। प्रकृत लोकहितकर और समाजहितकर कार्य ज्ञानियों द्वारा ही सम्भव हैं। यदि वे कर्म का परित्याग करे तोजिस के हित के लिए चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की गई है उसी समाज की अत्यन्त क्षति होगी इसीलिए ऐसा समझ पड़ता है कि मनु ने संन्यास आश्रम की सीमा का निर्देश वृद्ध-काल के लिए ही किया है—

*गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलितमात्मनः।*
*अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥*

"शरीर में झुर्रियां पड़ते ही और पौत्र मुख देखने पर गृहस्थ वानप्रस्थ होकर संन्यास ग्रहण करे।" किन्तु यह समाधान सन्तोषजनक नहीं है। यदि अन्त में संसार-त्याग और संन्यास के बिना श्रेष्ठ गति और परम सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती तो क्या शरीर और मन की समस्त शक्ति क्षीण होने के लिए वृद्धावस्था की अपेक्षा करना सङ्गत है? वस्तुतः मनु की यह व्यवस्था व्यवहार में नहीं लाई जा सकती। इस विषय में स्मृति

की अपेक्षा गीता का समाधान श्रेष्ठ है। गीता कहती है कि परम सिद्धि लाभ करने के लिए कभी भी संन्यास आश्रम में जाने की आवश्यकता नहीं, संसार में रहकर कर्म करते हुए मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। गीता का यह मत नया नहीं है, प्राचीन काल में इस कर्मयोग की साधना प्रचलित थी और वह जनकादि के दृष्टान्त से स्पष्ट है। कालक्रम से यह महान् योग नष्ट हो गया, और श्रीकृष्ण ने पुनः अर्जुन को व्याख्या कर समझाया ( ४।२,३ )। वेद संहिता और ब्राह्मण समूह ने संन्यास आश्रम अवश्य कर्त्तव्य है ऐसा कहीं नहीं कहा। बल्कि गृहस्थाश्रम में रहकर मोक्ष-लाभ होता है ऐसा वेद का विधान जैमिनि ने बतलाया है ( वेदान्त-सूत्र ३।४।१७ )। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान-लाभ कर संसार और कर्म का परित्याग करना होगा ऐसा मत उपनिषद्-युग में प्रथम प्रचारित हुआ था।

गीता ने वर्णाश्रम-धर्म के मूल सत्य को ग्रहण किया है परन्तु उसके बाह्य रूप को चिरन्तन मानकर स्वीकार नहीं किया है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी इस प्रकार आश्रम के एक के बाद एक सोपान हैं इन्हीं को स्मार्त्त अर्थात् स्मृतिकारों का बताया हुआ मार्ग कह सकते हैं। किन्तु गीता स्मार्त्त मार्ग का ग्रन्थ नहीं है। बाह्य और सामाजिक आचार के पीछे जो सनातन अध्यात्म सत्य है गीता ने

उसी का पता बताया है। चार आश्रम-विभाग का मूल तात्पर्य यही था कि मनुष्य का परम लक्ष्य अध्यात्म जीवन की प्राप्ति है, परन्तु मनुष्य इस परम सिद्धि को एकबारगी प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए शिक्षा, सांसारिक कर्म और भोग के द्वारा देह, प्राण, मन को क्रमशः अध्यात्म जीवन के लिए तैयार करना होगा। परन्तु अध्यात्म जीवन के परम लक्ष्य को पहले से जान लेना होगा और समस्त जीवन को इसी लक्ष्य का अनुयायी बना नियन्त्रित करना होगा। चार आश्रम का विभाग इसी नीति को कार्य में परिणत करने के लिए तत्कालोपयोगी व्यवस्था थी। किन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि क्रमशः यह व्यवस्था विशृङ्खल हो गई* और मनुष्य संन्यास के मोह में पड़ कर सांसारिक जीवन की अवहेलना करने लगा। इसीलिए गीता ने निष्काम कर्म, यज्ञार्थ कर्म के द्वारा वर्णाश्रम-धर्म क मूल सत्य का प्रचार किया। भारत के परम दुर्भाग्य से शङ्कर आदि संन्यासिगणों के आग्रह और स्मार्त्त पण्डितों की परम्परा से गीता की यह प्राणमय शिक्षा आज तक भारतवासी ठीक ठीक ग्रहण नहीं कर सके। उपनिषद् में जो कर्म, त्याग और संन्यास पर जोर दिया है, वही कालक्रम से शङ्कर के मायावाद में चरम अवस्था को प्राप्त होता है, सब उपनिषदों में वह देखने

* किसी किसी का कहना है कि यह व्यवस्था पूर्ण रूप से कभी नहीं चली। वह एक आदर्श मात्र रही थी।

को नहीं मिलता। कर्म के अनुयायी उपनिषदों के दो भाग करने पर जान पड़ता है कि पहले के उपनिषदों में वैदिक युग की कर्म-शिक्षा का प्रभाव वर्तमान है; शेष उपनिषद् क्रमशः ज्ञान और संन्यास की ओर झुके हुए हैं। गीता ज्ञान की, संन्यास की निन्दा नहीं करती बल्कि उनको उच्च सार्थकता प्रदान करती है। बाह्य संन्यास नहीं, भीतर का त्याग चाहिए, और त्याग के द्वारा भोग। कर्म-त्याग नहीं करना होगा, कर्म के बन्धन-दोष को ज्ञान द्वारा नष्ट कर मुक्त स्वाधीन भाव से कर्म करना चाहिए। गीता ने कर्म पर जो बार बार जोर दिया है उसका बीज हम ईशोपनिषद् में पाते हैं—

*ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।*
*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥*
*कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।*
*एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥१. २॥*

"विश्व जगत् में जो कुछ भी है वह सब भगवान् के लिए है। त्याग के द्वारा भोग करो; किसी के धन का लोभ मत करो; इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा रक्खो। तुम्हारे लिए यही सत्य है, और कुछ नहीं; मनुष्य को कर्म बद्ध न करे।"

# सांख्य और गीता

गीता कठिन दार्शनिक तत्त्वों की सूक्ष्म आलोचना का ग्रन्थ नहीं है, और यदि केवल दार्शनिक तत्त्वालोचना द्वारा अपनी बुद्धि-वृत्ति की तृप्ति के लिए हम उसका पाठ करें तो हमको गीता-पाठ का ठीक फल नहीं मिलेगा। गीता मूलतः योगशास्त्र है। मनुष्य जिस भाव से चलकर अपनी सत्ता की क्रमोन्नति साधन कर दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द प्राप्त कर सके, दिव्य जीवन का अधिकारी हो मानव जन्म को सार्थक कर सके, गीता में इसी की व्यावहारिक प्रणाली समझाने के लिए तत्त्व-कथा की अवतारणा की जितनी आवश्यकता हुई है केवल उतनी ही की है। अपनी योग-प्रणाली समझाने के लिए जिन सकल दार्शनिक तत्त्व और दार्शनिक भाषा की सहायता गीता ने ली है वह तत्काल प्रचलित भारत के दर्शनों से ली गई है। भारत के इन दर्शनों के अतिरिक्त और दूसरे नहीं हैं, उनका मर्म ठीक भाव से हमारे लिए अब समझना सम्भव नहीं। अतएव, गीता कथित दार्शनिक तत्त्व और अनेक मतवादों की पाण्डित्यपरिचायक (Academic) सूक्ष्म समालोचना करने में कोई विशेष लाभ नहीं जान पड़ता। केवल दर्शन-चर्चा के लिए, केवल गीता का पाठ न कर अपने आध्यात्मिक जीवन-गठन के निमित्त, अपने आत्मा का पूर्ण विकास-साधन

करने के लिए जो अपूर्व उपदेश, समुद्र में असंख्य रत्नों की तरह, निहित हैं उनका ही यथासम्भव संग्रह कर कार्यतः अपने जीवन में प्रयोग करने में गीता-पाठ की सार्थकता है। तो भी युग-धर्म के प्रभाव से तर्क-बुद्धि पर ही हम इतने निर्भर हो गए हैं कि हमारे जिज्ञासा-प्रवण मन को जब तक कुछ शान्ति प्राप्त न हो तब तक कार्यतः योग-पथ में अग्रसर होना बहुत कठिन है। भारतीय षड्दर्शन के मूल तत्त्वों से जिनका थोड़ा भी परिचय है वे अनेक स्थलों में इन तत्त्वों का गीता से असामञ्जस्य देखकर बड़े संशय में पड़ जाते हैं। अतएव प्रचलित दर्शन-समूह से गीता का क्या सम्बन्ध है, गीता ने उनमें कितना ग्रहण किया है और कितना वर्जन किया है, जिनका ग्रहण किया है उनमें क्या परिवर्तन किया है, कितना उनसे योग किया है इन सब बातों को जहाँ तक सम्भव हो सके स्पष्ट रीति से जानना आवश्यक है। नहीं तो गीता ने जहाँ सांख्य की चर्चा की है या योग की वहाँ यदि हम ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्य-कारिका का सांख्य मत समझें या पतञ्जलि का योगदर्शन समझ लें, तो गीता-शिक्षा का मर्म जानना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। वेदान्त-ज्ञान-सम्बन्धी जो तीन ग्रन्थ प्रमाण माने जाते हैं गीता की उनमें गणना है; किन्तु इसी कारण से शंकर के मायावाद के आलोक में यदि हम गीता का अर्थ समझाने की चेष्टा करें तो गीता के प्रधान विषय को हम पकड़ न पायेंगे।

इस प्रबन्ध में सांख्य से गीता का ठीक क्या सम्बन्ध है इसी की किञ्चित् आलोचना करेंगे ।

गीता योग-सांख्य के विश्लेषणमूलक ज्ञान पर प्रतिष्ठित है; सांख्य से ही उसका आरम्भ होता है और उसके अनेक मत और पद्धति सांख्य के ही अनुरूप हैं। तथापि गीता सांख्य को पार कर बहुत आगे बढ़ गई है, सांख्य की किसी किसी मूल बात को अस्वीकार करती है, और सांख्य के निम्न स्तर के विश्लेषण-मूलक ज्ञान का उच्च व्यापक वैदान्तिक सत्य के साथ समन्वय करती है। कार्यतः सांख्य से गीता का जो पार्थक्य हुआ है पहले उसी की चर्चा संक्षेप से की जाती है। सांख्य मत से संसार दुःखमय है और इस दुःख की चरम निवृत्ति पुरुषार्थ है। संसार में रह कर नाना उपायों द्वारा इस दुःख का किञ्चित् शमन किया जा सकता है, उसकी ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं होती। दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति करने के लिए संसार का खेल बन्द करना होगा। जो सकल बन्धन हमको सांसारिक जीवन में बाँध रखते हैं उन सबको तोड़ना होगा; एक प्रकार से संसार के दुःख से छुटकारा पाने के लिए दुःख-मय संसार का ही परित्याग कर चल देना पड़ेगा। रोगी का नाश कर रोग के उपशम की ऐसी व्यवस्था का गीता अनुमोदन नहीं करती। इस विश्वलीला को छोड़ कर चल देने के लिए हम इस लीला के बीच में आए हैं इस प्रकार विश्व-लीला

को निरर्थक बता कर गीता स्वीकार नहीं करती। माना कि मनुष्य साधारणतः जैसा जीवन-यापन करता है वह सांख्य की दृष्टि से दुःखमय है; इस जीवन को छुड़ा कर हमको ऊपर उठाना होगा; परन्तु इसके लिए जीवन-लीला का परित्याग कर कहीं चले जाने का प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के भीतर ही दिव्य सत्ता, दिव्य शक्ति मौजूद है, साधना के द्वारा मनुष्य अपने दिव्य भाव को विकसित कर ऊपर उठ सकता है, विश्व प्रकृति की लीला में रह कर इस लोक, यहीं मर्त्यधाम में रह कर अशेष अमृत का आस्वाद कर सकता है—'*सुखं अक्षयमश्नुते*'। सांख्य ने पुरुषार्थ-लाभ का पथ बताया है ज्ञान, कर्म, संन्यास, सांख्य की साधना में कर्म को कोई स्थान नहीं। गीता के मत से कर्म साधना का एक प्रधान अङ्ग है। सांख्य की साधना में ईश्वर-भक्ति का कोई स्थान नहीं, ईश्वर ही नहीं है। गीता के मत से ईश्वर ही एक मात्र सत्य वस्तु है; विश्व संसार में जो कुछ भी है सब इसी एकमेवाद्वितीयं परमेश्वर से ही आया है; इस ईश्वर को आत्मसमर्पण और उसकी भक्ति मुक्तिलाभ के प्रधान उपाय हैं। सांख्य के मत से मुक्ति के परे संसार नहीं, जीवनलीला नहीं, पुरुष तब अपनी शान्त निष्क्रिय-सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाता है। गीता के मत से मुक्ति का अर्थ है भगवान् से मिलन, भगवान् में वास, '*मय्येव निवसिष्यसि*', आत्मा का भगवान् से ऐक्य लाभ और प्रकृति का दिव्य

भाव। भगवान् की इच्छा का यन्त्र बन कर, संसार के प्रयोजनीय सर्व विधि कर्म सम्पादन, सर्वभूत में आत्मा और भगवान् को देखना, "वासुदेवः सर्वम्" यह ज्ञान प्राप्त कर सर्वभूतों में प्रेम, सर्वभूतों का हितसाधन यही परम पुरुषार्थ है। विश्लेषण द्वारा प्राप्त सांख्य के ज्ञान को स्वीकार कर गीता किस प्रकार सकल सम्पूर्ण सिद्धान्तों पर पहुँची है उसी की यहाँ संक्षेप से आलोचना की जाती है।

सांख्य मत से प्रकृति और पुरुष दो विभिन्न सत्ताएँ हैं। इस विश्व-संसार में सृष्टि, स्थिति, लय जो कुछ भी होता है सभी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध का फल है। बहिर्जगत् में वायु, जल, अग्नि आदि मूल भूत समूह, और इनको आधार बना कर जो सकल प्राकृतिक-नैसर्गिक व्यापार चलता है, साथ ही अन्तर्जगत् में इच्छा-द्वेष, सुख-दुख, सङ्कल्प-विकल्प आदि जो मन-प्राण के व्यापार चलते हैं ये सब प्रकृति की क्रिया हैं। प्राकृत जगत् में निम्नतम अचेतन पदार्थ से क्रम-विकास द्वारा जो वृक्षलता, पशुपक्षी और अन्त में मानव मन और बुद्धि का आविर्भाव हुआ है, यह सब प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज, तम के परस्पर मिश्रण और घात-प्रतिघात के फल हैं। किन्तु यदि पुरुष न देखे या अनुमति न दे तो प्रकृति में न कोई हलचल हो और न वह कुछ काम कर सके। पुरुष को दिखाने के लिए, उसको भोग कराने के लिए प्रकृति की समस्त क्रियाएँ

होती हैं। बिना पुरुष के किसी कार्य की प्रेरणा नहीं हो सकती। पुरुष निष्फल है, प्रकृति ही सब करती है। किन्तु प्रकृति को पुरुष की अनुमति की अपेक्षा होती है। पुरुष अनुमति न दे तो संसार का खेल बन्द हो जाय; किन्तु प्रकृति के खेल में पुरुष ऐसा आसक्त हो जाता है कि अपनी स्वतन्त्र सत्ता को भूल जाता है और भूला हुआ प्रकृति के खेल को देखा करता है। इसी से जन्म-जन्मान्तर यह खेल चला करता है। जब पुरुष अपने स्वरूप को लेता है, प्रकृति के खेल में भूला भटका नहीं रहना चाहता तभी प्रकृति का खेल बन्द हो जाता है। मोहिनी रमणी प्रणयी को मुग्ध करने के लिए नाना प्रकार से जैसे अपने हाव-भाव दिखाती है, और पुरुष के मुँह फेर लेने पर उसको हाव-भाव से ठगने का प्रयोजन नहीं रहता, इसी प्रकार इस विश्व-जगत् में पुरुष जब तक मुग्ध होकर प्रकृति के खेल को देखता है तभी तक वह खेल चलता है। प्रकृति के खेल में कार्यतः पुरुष कोई योगदान नहीं देता; पुरुष तो शान्त, निष्क्रिय, शुद्ध और चैतन्यमय है। तथापि प्रकृति की विचित्र लीला में उसका चैतन्य इस प्रकार छिप जाता है कि वह समझता है कि समस्त क्रियाएँ पुरुष की ही अपनी हैं। शुभ्र स्फटिक के पास जवा फूल रखने से जैसे स्फटिक देखने में रक्त वर्ण मालूम होता है किन्तु वस्तुतः वह शुभ्र ही रहता है और उसकी मूल सत्ता का किसी प्रकार व्यतिक्रम नहीं होता

और जवा फूल के हटते ही वह अपनी पहली शुभ्र सत्ता को प्राप्त होता है उसी प्रकार प्रकृति के संयोग से पुरुष संसार-लीला में बद्ध हो सुख-दुःख का भोग करता है, वास्तव में उसको न कोई बन्धन है न भोग। पुरुष तो नित्य, शान्त, अचल, अक्षर, चैतन्यमय है। पुरुष जब इस सांख्योक्त ज्ञान को प्राप्त करता है तब प्रकृति को अपने से बिलकुल स्वतन्त्र समझता है। जब उसको अपने स्वरूप की उपलब्धि होती है तब प्रकृति के खेल से अपनी अनुमति हटा लेता है, संसार का खेल बन्द हो जाता है और संसार के अवसान के साथ साथ समस्त सुख-दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजः, तमः जब साम्यावस्था में होते हैं तब प्रकृति की कोई क्रिया या संसार-लीला नहीं होती और प्रकृति तब अव्यक्त होती है। पुरुष के सान्निध्य में आकर गुणत्रय की साम्यावस्था विच्युत हो जाती है और इन गुणों में द्वन्द्व होने लगता है और संसार का खेल जारी हो जाता है और पुरुष गुणों से बद्ध हो जाता है। जब ज्ञान-लाभ होने पर पुरुष को यह मालूम हो जाता है कि इतने दिनों तक गुणों का जो खेल होता था वह उसका नहीं बल्कि प्रकृति का था तब गुणों की साम्यावस्था फिर से आ जाती है और पुरुष मुक्त हो जाता है।

सांख्य का यह विश्लेषण-मूलक ज्ञान गीता-योग की भित्ति

है। प्रकृति को पुरुष और आत्मा से स्वतन्त्र देखना, तीन गुणों के खेल को बाहर का खेल समझना, संसार में जो कुछ भी होता है, हमारे भीतर बाहर जो कुछ भी घटना घटित होती है सुख-दुःख, काम, क्रोध, चिन्ता, भावना, इच्छा, द्वेष ये हमारे नहीं हैं प्रकृति के हैं, हम तो वस्तुतः नित्य, सनातन, अचल, अक्षर हैं और प्रकृति के खेल हमको स्पर्श नहीं कर सकते—सांख्य का यह ज्ञान गीता के मत से योग का प्रथम सोपान है। गीता के प्रथम अंश में ही अर्जुन को उपदेश दिया गया है—*निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*। किन्तु गीता यहीं पर नहीं ठहर जाती, यदि यहीं रह जाती तो गीतोक्त साधना में कर्म और भक्ति का कोई स्थान न होता और त्रिगुण के खेल के ऊपर दिव्य जीवन की लीला का पता गीता न दे सकती।

सांख्य मत से पुरुष की दो अवस्थाएँ हैं; बद्ध और मुक्त। प्रकृति की त्रिगुणमयी क्रिया में पुरुष जब निमग्न होता है उतने क्षण के लिए आसक्ति और अहंकार के वश उस खेल को अपना ही समझता है और संसार में बद्ध जीव होकर अनित्य संसार के सुख-दुःख-रूप द्वन्द्व में पड़ कर अशान्ति भोगता है। जब पुरुष ज्ञान-लाभ कर प्रकृति को स्वतन्त्र समझ लेता है तब प्रकृति का खेल बन्द हो जाता है और पुरुष अपनी शान्त, नीरव, निष्क्रिय, अक्षर अवस्था में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है। गीता इन दोनों अवस्थाओं के ऊपर एक और अवस्था का पता

देती है। वहाँ पुरुष प्रकृति का ईश्वर होता है, स्वाधीन भाव से ज्ञानपूर्वक प्रकृति को ग्रहण कर लीला करता है। सांख्य के बद्ध पुरुष की अवस्था को गीता क्षर कहती है और सांख्य के पुरुष की मुक्तावस्था को गीता ने अक्षर का नाम दिया है। और इन क्षर और अक्षर के ऊपर जो अवस्था है उसको गीता पुरुषोत्तम कहती है—

*द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।*
*क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥*
*उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।*
*यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥*
*यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।*
*अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥*

(१५,१६,१७,१८)

सांख्य मत से कूटस्थ वा अक्षर अवस्था प्राप्त करना ही निःश्रेयस है। इसके ऊपर और कुछ नहीं। गीता कहती है कि आत्मा की ऊर्ध्व गति में कूटस्थ अवस्था एक सोपान मात्र है, उसकी चरम सिद्धि के लिए पुरुषोत्तम से मिल जाना होगा। यह पुरुषोत्तम क्या है? पुरुष है भगवान की निज की सत्ता। तीन स्तरों और चेतना के क्षेत्र में तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—क्षर, अक्षर, उत्तम। क्षर पुरुष है नित्य परिवर्तन शील प्रकृति की लीला में बँधा हुआ पुरुष, भोक्ता भर्ता आदि होकर अनित्य का

आनन्द ग्रहण करता है। अक्षर पुरुष है प्रकृति के ऊपर, प्रकृति से मुक्त, वियुक्त पुरुष। वह अपने आप में सम्पूर्ण रूप से निमज्जित है और क्षर तथा अक्षर पुरुष जिसमें युगपत् स्थान पाते हैं वह है पुरुषोत्तम। पुरुषोत्तम के भीतर जो अचल शान्ति, अनन्त ऐक्य, अविकल्प साम्य, प्रतिष्ठा रूप से रहे हैं वे ही अक्षर पुरुष हैं; और प्रकाश और लीला के लिए जब पुरुषोत्तम प्रकृति को ग्रहण कर नीचे आता है, बाहर निकलता है तब प्रकृति के बीच में वह क्षर रूप को धारण करता है।

जीव की भी ये तीन अवस्थाएँ हैं क्योंकि जीव भी तो भगवान् का ही अंश है, व्यष्टि या व्यक्ति रूप में वह भगवान् का ही तो एक रूप विशेष है। जीव जब अज्ञान के खेल में मग्न होता है, प्रकृति द्वारा अवश होकर चलता है, अपने रूप को भूल जाता है तब उसकी क्षर अवस्था होती है और यही साधारण मनुष्य की अवस्था रहती है। पुरुष की सांख्य-मतानुसार बद्ध अवस्था भी यही है। जब जीव प्रकृति के खेल से अपने आप को अलग कर आत्मा की निष्कम्प, अचल, शान्त अवस्था में प्रतिष्ठित होता है तब उसकी अक्षर की अवस्था होती है। सांख्य के मुक्त पुरुष की यही अवस्था है। बौद्ध मत से इसी का नाम निर्वाण है और मायावादी के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की अवस्था यही है और जब जीव निज रूप में अन्तर्मुख होकर स्थित भगवान् की अनन्त सत्ता से एक हो अटूट

शान्ति, अविकल्प साम्य का अनुभव करता है और बाहर की प्रकृति को फोड़ कर दिव्य रूप लाभ करता है और प्रकृति-बोध-सहित भगवान् के हाथ का यन्त्र होकर संसार के सभी प्रयोजनीय कार्य करता है तभी उसकी पुरुषोत्तम अवस्था होती है—"*मम साधर्म्यमागताः*" ।

सांख्य ने बताया कि जब तक पुरुष अज्ञान है तभी तक प्रकृति अपना खेल दिखा कर उसको मुग्ध बना रखती है। पुरुष यदि ज्ञान प्राप्त कर ले तो प्रकृति की यह मोहनी लीला अपने आप ही बन्द हो जाती है। पुरुष को यदि वासना, अहंकार और आसक्ति न हो तो प्रकृति उसको बन्दी नहीं बना सकती। अतएव प्रकृति की लीला में प्रवृत्ति आप ही समाप्त हो जाती है। गीता का कहना है कि पुरुष को आसक्ति से बद्ध कर अवश भाव से संसार भोग करना ही एक मात्र प्रकृति का काम नहीं है। यह तो केवल प्रकृति के अज्ञान का, अविद्या माया का खेल है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का एक सज्ञान खेल है, वह है मुक्त पुरुष के वशीभूत होकर, पुरुष के साक्षात् निर्देशानुसार प्रकृति की लीला करना। और तभी उसके दिव्य-रूप, दिव्य-लीला का विकास होता है और विद्या माया का खेल होता है। जब तक वासना, आसक्ति, अहंकार के विवश होकर मनुष्य कर्म करता है तब तक वह प्रकृति के अधीन जीवन-यापन कर संसार के "*अनित्यम् असुखम्*" खेल में निमग्न रहता

है। वासना और अहंकार को जय कर, स्वरूप में प्रतिष्ठित हो और प्रवृत्ति को अपने वश में रख मनुष्य जब जीवन-लीला करता है तब उसका जीवन हो जाता है दिव्य जीवन या भागवत जीवन।

ऐसा होने से सांख्य के मत से प्रकृति एक है और गीता के मत से दो या एक ही प्रकृति के दो रूप; विकृत रूप और स्वरूप, अपरा और परा। सांख्य मत से प्रकृति का खेल बन्द कर संसार से पार होना होगा, गीता के मत से अपरा प्रकृति का खेल छोड़ परा प्रकृति के खेल को विकसित कर उठना होगा। आरम्भ में सांख्य और गीता में भेद नहीं है। सांख्य की जो त्रिगुणमयी प्रकृति है वही गीता की अपरा प्रकृति है; सांख्य की तरह गीता भी कहती है कि इस प्रकृति का अतिक्रम करके जाना होगा—"*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।*" इस त्रिगुणमयी प्रकृति को छोड कर जाने के लिए सांख्य ने जिस ज्ञान और अभ्यास का पथ दिखाया है गीता उसको अस्वीकार नहीं करती, फिर नीचे की इस त्रिगुणमयी प्रकृति को छोड़ कर ऊपर में परा प्रकृति के दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए सांख्य के कर्मसंन्यास की अपेक्षा गीता ने कर्मयोग की ही प्रशंसा की है—

*संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।*
*तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥* ५। २॥

सांख्य के मत से पुरुष की मुक्त अवस्था में कोई कर्म नहीं रहता, और साधन अवस्था में भी कर्म-संन्यास या कर्मत्याग का मार्ग ही अवलम्बनीय है। किन्तु गीता यह समझती है कि कर्मत्याग कोई सहज व्यापार नहीं है; प्रकृति ने जो विश्व-व्यापी कर्म-प्रवाह चलाया है उसको बन्द करना असम्भव है। जब कर्म चलता ही रहेगा—"*न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य-कर्म्मकृत*"—तब कर्म बन्द करने की चेष्टा न कर, किस भाव से कर्म करना चाहिए जिससे कि वह बन्धन का कारण न हो, परन्तु कर्म के द्वारा ही प्रकृति शुद्ध और रूपान्तरित हो जाय, गीता ने इसी का निर्देश किया है, और यही गीता का कर्म-योग है किन्तु गीता ने दिखाया है कि इस कर्मयोग के साथ मूलतः सांख्य के संन्यास का कोई विरोध नहीं है। प्रकृति ही जब सब कुछ करती है और पुरुष कुछ नहीं करता तो पुरुष के लिए कर्म करना या न करना दोनों ही समान हैं। पुरुष जब इस ज्ञान को प्राप्त कर समस्त कर्म प्रकृति पर आरोप करे तभी प्रकृत कर्म-संन्यास होता है। गीता के मत से भीतर का त्याग ही प्रकृत त्याग है, बाहर का त्याग एक तो सम्भव नहीं और दूसरे उसका प्रयोजन भी नहीं है। जिस व्यक्ति ने भीतर की आसक्ति और अहंकार का त्याग किया है, समस्त कर्म-प्रकृति पर आरोप किए हैं उसको कोई कर्म फिर बद्ध नहीं कर सकते, घोर कर्म में नियुक्त होने पर भी उसको पाप स्पर्श नहीं करता—

*ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।*
*लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥५।१०॥*

किन्तु यह प्रश्न हो सकता है कि कर्म का प्रयोजन ही क्या ? आसक्ति और वासना के वश होकर कर्म करने से यदि वह बन्धन का कारण होता है और अनासक्त भाव से कर्म करना कठिन है तो फिर क्या यह बुद्धिमानी की बात न होगी कि जितना कर्म किये बिना काम न चले केवल उतना ही अनासक्त भाव से करे और अन्य कर्मों से जहाँ तक हो सके दूर ही रहे ? कुरुक्षेत्र की तरह भीषण युद्ध में रत होकर सहस्र सहस्र प्राणियों का वध कर क्या आत्मा का कल्याण होगा ? सांख्य ने इस नैष्कर्म्य पर जो ज़ोर दिया है उसको गीता ने बार बार काटा है और सकल प्रकार के कर्म, *सर्वाणि कर्माणि*, करने के लिए उपदेश दिया है यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। गीता का भाव यही है कि यदि सांख्य के अनुसार प्रकृति ही सब कुछ करती है पुरुष कुछ नहीं करता, तो फिर मनुष्य कोई भी कर्म क्यों न करे इस भाव के मन में आते ही कि प्रकृति ही सब कुछ करती है, सांख्य मत का कोई प्रतिवाद नहीं होता। अथ च, गीता का जो लक्ष्य है वह सांख्य से भिन्न है, गीता सांख्य की मुक्ति या निःश्रेयस से ऊपर उठना चाहती है और इसी लिए कर्म का प्रयोजन है,—*कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः*। कर्म के इस प्रयोजन पर गीता ने जितना

जोर दिया है उसको समझना आवश्यक है। सांख्य का उद्देश्य है प्रकृति को छोड़ कर जीवन-लीला को बन्द करना; और गीता का उद्देश्य है नीचे की प्रकृति को शुद्ध, रूपान्तरित कर ऊपर की प्रकृति में दिव्य खेल का विकास करना। नीचे की प्रकृति की अशुद्धि दूर करने के लिए ही योगी को अनासक्त भाव से कर्म करना होता है—

*कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।*

*योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५। ११*

नीचे की प्रकृति की अशुद्धि दूर कर सकें और अज्ञान, अहंकार, वासना से छुटकारा पा लें तो हमें दिव्य जीवन का लाभ हो और हमारी त्रिगुणमयी प्रकृति दिव्य प्रकृति में परिणत हो जाय। यही दिव्य प्रकृति है—आत्मा का प्रकृत स्वरूप, स्वभाव, स्वधर्म। जब तक कि हम नीचे की प्रकृति में हैं तभी तक अपने स्वरूप को खोकर विकृत जीवन-यापन करते हैं, जरा-मृत्यु-दुःखमय संसार में पड़े हुए अमृत से वञ्चित रहते हैं। निर्मम भाव से इस नीचे के खेल का वर्जन कर हमको आत्मा के प्रकृत स्वरूप में प्रतिष्ठित होना होगा और इसके लिए चाहिए ज्ञान, कर्म और भक्ति। ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय में दिव्य जीवन-लाभ के लिए जो साधना है वही गीता का पूर्ण योग है। इसमें सांख्य के ज्ञान और संन्यास का स्थान है किन्तु गीता का समन्वय योग का अंग हो कर ज्ञान और

संन्यास से अधिक उदार, गम्भीर और महान् महत्त्व का हो गया है। हमको जानना चाहिए कि हमारा आत्मा प्रकृति से स्वतन्त्र और उसके खेल के ऊपर है; त्रिगुण का, नीचे का, द्वन्द्वमय खेल हमारे जीवन का सब कुछ नहीं है। यह भी जानना होगा कि विश्व-जगत् में जो कुछ भी है सभी भगवान् से आया है और सभी भगवान् है—*वासुदेवः सर्व्वम्*। हम भी भगवान् के अंश हैं। अपनी आत्मसत्ता का भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करा, अपनी प्रकृति को भगवान् की इच्छा का निर्दोष यन्त्र बनाना, यही निःश्रेयस है और यही नीचे की प्रकृति से मुक्ति और नीचे के अहंकार का नाश है। किन्तु यह ज्ञान केवल एक मानसिक धारणा मात्र नहीं है और न यह विचार और वितर्क के द्वारा प्राप्त हो सकता है। शुद्ध आधार के भीतर रह कर जो आलोक स्वतः प्रकाशित होता है वही प्रकृत ज्ञान है,—*ज्ञानदीपेन भास्वता*। इस शुद्धि और ज्ञान के लिए चाहिए कर्म और चाहिए भक्ति। सांख्य मत से प्रकृति ही जब सब कुछ करती है; और पुरुष का न कुछ कर्त्तव्य है और न कुछ उत्तरदायित्व, तब कर्म हुआ या न हुआ और किस भाव से हुआ इससे कुछ प्रयोजन ही नहीं रहता। परन्तु गीता ने तो कर्म की सार्थकता दिखाई है; कर्म के द्वारा आत्मशुद्धि करनी होगी और नीचे की प्रकृति का रूपान्तर कर दिव्य प्रकृति में परिणत करना होगा, अतएव जैसे तैसे भाव से कर्म करने से काम न चलेगा।

साधारणतः वासना और अहंकार के वश जो सब कर्म करते हैं वे हमको नीचे के जीवन में, अपरा प्रकृति में बाँध रखते हैं। अतएव यज्ञार्थ कर्म करना होगा। पहले समस्त कर्मफल और फिर धीरे धीरे समस्त कर्म भगवान् के अर्पण करने होंगे। उनकी इच्छा का यन्त्र बनकर कर्म करने होंगे। यही कर्मयोग है। इस प्रकार निष्काम ईश्वरार्थ कर्म के द्वारा हमारी चित्तशुद्धि होगी और ज्ञान वर्धित होगा और ज्ञान के द्वारा कर्म और भी निष्काम हो अनासक्त बन जायगा। ज्ञान कर्म को शुद्ध करता है और कर्म ज्ञान को पूर्ण करता है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म के द्वारा हम दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होते है।

किन्तु इस ज्ञान और कर्म के मूल में होती है भक्ति और इन दोनों की चरम परिणति होती है भगवान् से ऐकान्तिक मिलन में। केवल अक्षर की शान्त कूटस्थ अवस्था को प्राप्त करना गीता का लक्ष्य नहीं है। पुरुषोत्तम में वास करना होगा— '*मय्येव निवसिष्यसि,*'' पुरुषोत्तम का भाव प्राप्त करना होगा; ज्ञान में, प्रेम में, कर्म में पुरुषोत्तम के साथ निबिड़ भाव से युक्त होना होगा। इसके लिए हमारे समस्त आधार को, समस्त ज्ञान कर्म को भगवन्मुखी करना होगा, भगवान् का एकान्त भाव से आश्रय ग्रहण कर—*ममाश्रित्य*—अपने समस्त जीवन का यापन करना होगा; और इस प्रकार शीघ्र ही नीचे की प्रकृति का अतिक्रम कर हम दिव्य भागवत जीवन का लाभ कर सकेंगे।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (१२।६।७)

सांख्य का लक्ष्य दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति है । इस निवृत्ति का पता पाकर सांख्य निवृत्त हो गया है । इस निवृत्ति के साधने के लिए जितने ज्ञान का प्रयोजन था उससे अधिक की सांख्य ने, अनावश्यक समझ, खोज नहीं की । सकल तत्त्व की व्याख्या न की और यह भी न देखा कि दुःख-निवृत्ति के ऊपर भी कोई वस्तु है या नहीं । सांख्य इन बातों में व्यस्त न हुआ । इसी कारण सांख्य में गम्भीर विश्लेषण तो है परन्तु समन्वय नहीं है । सांख्य ने मुक्ति का पथ दिखाया है किन्तु उसने श्रेष्ठ रहस्य नहीं प्राप्त किया । सांख्य की इस अपूर्णता को गीता ने वैदान्तिक ज्ञान के आलोक में पूर्ण किया है । विश्व-तत्त्व का विश्लेषण कर सांख्य अक्षर पुरुष तक पहुँच कर ठहर गया । त्रिगुणमयी प्रकृति को छोड़ कर अक्षर में प्रतिष्ठित हो सके और अविकल्प शान्ति प्राप्त कर ऐकान्तिक दुःख की निवृत्ति कर सके इसका उपाय बता कर सांख्य सन्तुष्ट हो गया और किस प्रकार इस अक्षर की शान्ति, या कैवल्य-लाभ किया जाय इसका पथ बता कर निवृत्त हो गया । प्रकृति तो एक है, पुरुष भी यदि एक हो तो सभी

समान भाव से सुख दु:ख का भोग नहीं करते, एक जन के मुक्त होने पर सब क्यों न नहीं मुक्त होते, इस बात का ठीक समाधान न हो सकने के कारण सांख्य ने कह दिया कि प्रकृति तो एक है किन्तु पुरुष बहु हैं। किन्तु ये बहु पुरुष और प्रकृति कहाँ से आए, इस बात के समझाने की चेष्टा सांख्य ने नहीं की है। पुरुष स्वयं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है प्रकृति के सम्पर्क में आकर संसार भोग के अनित्य असुखमय खेल पुरुष के लिए आरम्भ होता है। किन्तु पुरुष और प्रकृति दो विभिन्न सत्ताएँ हैं तो फिर इनका परस्पर सम्पर्क किस प्रकार हो सकता है? सांख्य इस बात का समाधान ईश्वर-तत्त्व की अवतारणा से कर सकता था और यह कह सकता था कि यह प्रकृति और यह सकल पुरुष एक परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उसी परम पुरुष की इच्छा से पुरुष-प्रकृति का संयोग हुआ है। किन्तु सांख्य अपनी कैवल्य-साधना में इस ईश्वर-तत्त्व का कोई प्रयोजन नहीं मानता। सांख्य का कहना है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं और चिर काल से बने हुए हैं। पुरुष और प्रकृति का संयोग अदृष्ट के वश हुआ है, अर्थात् किस प्रकार से यह हुआ है सो जाना नहीं जा सकता, वह 'अदृष्ट' (Unknown) है। पुरुष जब ज्ञान-लाभ करता है तभी वह मुक्त हो जाता है, स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, और इस मुक्ति-लाभ के लिए ईश्वर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

सांख्य इस प्रकार विश्लेषण करके शान्त हो गया है, किन्तु गीता ने इन सकल तत्त्वों को एकत्र कर वेदान्तिक सत्य की भित्ति पर उनका स्थापन कर अपूर्व समन्वय किया है। सांख्य ने प्रकृति के चौबीस तत्त्वों का वर्णन किया है, गीता के मत से भी त्रिगुणमयी विश्व प्रकृति का बाह्य कार्य उसी प्रकार है। पुरुष और प्रकृति का जो सम्बन्ध-निर्णय सांख्य ने किया है वह भी ठीक है और बन्धन, मुक्ति और प्रत्याहार के लिए कार्यतः इस सांख्य-ज्ञान की विशेष उपयोगिता भी है किन्तु यह वास्तव में नीचे की अपरा प्रकृति है और वह त्रिगुणमयी अचेतन है। इसके अतिरिक्त उच्च प्रकृति भी है और वह है परा, चेतन दैवी प्रकृति और इसी परा प्रकृति से जीव ( Individual soul ) हुआ है। नीचे की प्रकृति से प्रत्येक जन अहं भाव से प्रतिभात है, और ऊपर की प्रकृति से वह एक मात्र पुरुष है। सांख्य के मत से बहु पुरुष ही बहु जीव हैं; गीता के मत से एक परम पुरुष ही प्रकृति के मध्य में बहु रूप से आत्मप्रकाश कर बहु जीव हुआ है। जिस शक्ति की सहायता से भगवान् ने बहु रूप होकर आत्मप्रकाश किया है वही प्रकृति है। यह प्रकृति सांख्य की प्रकृति की तरह स्वतन्त्र नहीं है। वह भगवान् की विश्वलीला की शक्ति है। ऐसा नहीं है कि प्रकृति केवल पुरुष की अनुमति और दृष्टि से ही काम करती है, वह तो पुरुष के द्वारा साक्षात् भाव से परिचालित होती है—

*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।*
*हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥९।१०॥*

किन्तु पुरुष और प्रकृति का यह जो साक्षात् सम्बन्ध है वह ऊपर का सम्बन्ध है; बद्ध जीव रूप से भगवान् जब संसार की अनित्य लीला का उपभोग करते हैं तब वे अवश भाव से प्रकृति के द्वारा चालित होते हैं; यही अपरा प्रकृति का या अज्ञान का खेल है। किन्तु यह बद्ध और मुक्त अवस्था, परा और अपरा का खेल सभी युगपत् ( एक साथ ही ) भगवान् के बीच में स्थान पाते हैं; और यह बात परम रहस्यमय है— *पश्य मे योगमैश्वरम् ।* जो जीव रूप से अपरा प्रकृति के खेल में बद्ध हैं वे ही ईश्वर रूप से परा प्रकृति को परिचालित करते हैं। और वे ही परा और अपरा सकल खेल के ऊपर हैं। एक साथ ही यह सब कैसे सम्भव है हम अपनी बुद्धि से इस बात को नहीं समझ सकते। गीता के भगवान् मनुष्य द्वारा मनुष्य रूप से कल्पित ( Anthropomorphic ) नहीं है तो भी मनुष्य को जो कुछ बनना है उसके वे आदर्श हैं*। जो लोग भगवान्

* भगवान् अपने परम पद में सकल अभिव्यक्ति से परे, अचिन्त्य, अक्षर, अनिर्देश्य है, किन्तु वे अपने इस परम पद में ही सीमाबद्ध नहीं हैं। वे सच्चिदानन्द रूप से अपने को जगत् में प्रगट किए हुए है। वे ही क्षर रूप से जगत् और सर्वभूत है, और वे ही अक्षर रूप से इस जगत् की प्रतिष्ठा-भूमि हैं। सकल जीव के हृदय में ईश्वर रूप से विराजते हुए उनको अपने परम लक्ष्य की ओर चलाते हैं। जीव, जिस

को प्राण मन समर्पण कर योग-साधन कर सकें वे ही भगवान् को समग्र भाव से संशय रहित होकर जा सकते हैं—

*मय्यासक्तमनाः पार्थ योग युञ्जनन्मदाश्रयः ।*
*असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥७।१॥*

जीव जब तक अज्ञान है प्रकृति के अधीन है; आसक्ति-वासना और अहंकार के द्वारा अवश कर प्रकृति जीव को चलाती है और संसार में भगवान् की गूढ़ इच्छा की पूर्ति करती है। यह प्रकृति स्वाधीन नहीं है, वह भगवान् की इच्छा-पूर्ति का यन्त्र है और भगवान् द्वारा ही परिचालित है। अज्ञान के वश में जीव अपने को स्वाधीन समझता है और जो कुछ करता है अपनी इच्छा से किया हुआ मानता है, किन्तु वस्तुतः भगवान् ही प्रकृति के द्वारा उसको चालित करते हैं—"*यन्त्रारूढ़ानि मायया*"। यह जो भगवान् हमारे हृद्देश में गुप्त भाव से रह सब समय हमको परिचालित करते हैं, अविद्या के आवरण को दूर कर जब उन भगवान् से युक्त होते हैं तब हमारा जीवन दिव्य हो जाता है और आत्मसत्ता में हमारा उनका एकत्व हो

---

प्रकार उनके साधर्म्य को प्राप्त कर सके इसका मार्ग दिखाने के लिए और उसका जीवन्त आदर्श सबके सन्मुख रखने के निमित्त, अपने प्रेम और माधुर्य्य के द्वारा सबको अपनी ओर आकृष्ट करने को वे युग युग में मानव-देह में अवतीर्ण होते हैं। अवतार-रूप में उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के रहस्य को जो जान सकें वे ही मृत्यु को अतिक्रम कर दिव्य जीवन प्राप्त कर सकते हैं। (गीता ४।९)

जाता है। तभी हमारी प्रकृति का दिव्य स्वरूप प्रगट हो जाता है और हमारी प्रकृति तब दिव्य ज्ञान से प्रकाशित हो जाती है, दिव्य प्रेम से परिपूर्ण होकर हम भगवान् की इच्छा-पूर्ति के यन्त्र बन जाते हैं। इस दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए हमको संसार छोड़कर जाना न होगा, न जीवनलीला को त्याग करना होगा। संसार के प्रयोजनीय सभी कर्म करते हम इस परम पद को पा सकते हैं, यदि हम पूर्ण भाव से भगवान् को आत्म समर्पण कर दें—

*सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।*
*मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्* ॥१८।५६॥

सांख्य के पुरुष और प्रकृति के विभेद से लेकर गीता ने जो तीन पुरुष और दो प्रकृति के तत्त्व का विकास किया है वही गीता की प्रधान बात है और गीता का दिव्य जीवन और दिव्य कर्म की समग्र शिक्षा इन्हीं पर प्रतिष्ठित है। गीता के इस दार्शनिक सिद्धान्त को बिना समझे गीता-शिक्षा के निगूढ़ मर्म को हम नहीं पा सकते और गीता के विभिन्न अंशों में सामञ्जस्य भी नहीं किया जा सकता अथ च गीता के विख्यात भाष्यगणों ने इस पुरुषोत्तम-तत्त्व को लेकर विशेष गोल-माल किया है। आचार्य शङ्कर का कहना है—"*क्षरश्च क्षरति इति क्षरः विनाशी एको राशिरपरः पुरुषोऽक्षरस्तद्विपरीतः भगवतो माया-शक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्य उत्पत्तिबीजम्*" अर्थात् जो क्षरित

होता है, विनाश को प्राप्त होता है वही है क्षर पुरुष, और अक्षर है इस क्षर से विपरीत पुरुष, यही भगवान् की मायाशक्ति है और यही अक्षर ही क्षर नामक पुरुष की उत्पत्ति का बीज कारण है। लोकमान्य तिलक अपने गीता-रहस्य में मूलतः इस व्याख्यान को ग्रहण कर कहते हैं, क्षर और अक्षर शब्द सांख्य शास्त्र के व्यक्त और अव्यक्त अथवा व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति शब्दों के समानार्थक हैं। अर्थात् गीता ने जो क्षर और अक्षर पुरुष का स्पष्ट निर्देश किया है उनको शङ्कर और तिलक ने प्रकृति समझ कर व्याख्या की है।

गीता कहती है कि इस जगत् में दो पुरुष हैं—"*द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षर और अक्षर*"। वस्तुतः ये दोनों एक ही भगवान् के दो भाव हैं, एक भाव से वे जगत् में बहु रूप से आविर्भूत होते हैं, देव मानव, जीव जन्तु, स्थावर जङ्गम वे सब हो जाते हैं, परिवर्तन और विकास के भीतर रह कर चलते हैं, और इस अवस्था में वे अपने को प्रकृति से एक कर देते हैं। किन्तु इतना ही सब नहीं है, इसके अतिरिक्त एक और पुरुष भी है उसमें यह सब कुछ नहीं है, वह शाश्वत आत्मा सदा एक ही भाव से रहता है उसमें न परिवर्तन है न विकास वह है एक, अचल, कूटस्थ, प्रकृति के कर्म में रह कर भी निष्क्रिय और उसकी गति में निश्चल। ठीक जिस प्रकार आकाश में वायु है वैसे ही अक्षर के बीच में क्षर टिका हुआ है—

*यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।*
*तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥९।६॥*

हम जब अन्तर्मुखी होते हैं तो प्रकृति की गति और सकल क्रिया के पीछे एक कूटस्थ, अचल शाश्वत सत्ता को पाते हैं, यही अक्षर पुरुष हैं। अतएव जगत् में हम दो पुरुष देखते हैं, एक संमुख आकर कर्म में प्रवृत्त हुआ है और दूसरा इसके पीछे चिर नीरवता और निश्चलता में प्रतिष्ठित रहता है; इसी से सकल कर्म उत्पन्न होते हैं और इसी कालातीत सत्ता में सकल कर्म लय हो जाते हैं।

उपनिषद् के "*द्वा सुपर्णा*" और गीता के "*द्वाविमौ पुरुषौ*" एक ही हैं। उपनिषद् में एक वृक्ष पर दो पक्षी की और एक अज और दो अजा की उपमा दी गई है, इस रूपक के द्वारा जिस तत्त्व को समझाया गया है गीता में वही दो पुरुषों का तत्व है। सांख्य से तुलना कर यह कहा जा सकता है कि सांख्य का बद्ध पुरुष गीता का क्षर पुरुष है और प्रकृति नाना लीला का साक्षी इत्यादि भाव से अधिष्ठित पुरुष गीता का क्षर पुरुष है*; और सांख्य का मुक्त पुरुष है गीता का

---

* क्षर पुरुष इसीलिए बद्ध हो ऐसी बात नहीं है। कार्यतः यह अवश्य देखा जाता है कि वह प्रकृति के जाल में बद्ध है, किन्तु प्रकृति के बीच में मुक्त अवस्था में भी वह रह सकता है। जीवन्मुक्त जीव में क्षर पुरुष प्रकृति का रसग्राही होते हुए भी प्रकृति से मुक्त रहता है।

अक्षर पुरुष जहाँ प्रकृति नहीं है, प्रकृति की लीला बिलकुल शान्त होकर वहाँ समाहित या लुप्त हो गई है। अक्षर पुरुष का ही दूसरा नाम है (The Immutable Brahaman)। अतएव अक्षर पुरुष कहने से माया या प्रकृति समझने से कुछ काम न चलेगा। तब शङ्कराचार्य ने इस प्रकार व्याख्या कैसे की यह बात ध्यान देने योग्य है। जगत् में हमको क्षर और अक्षर, सक्रिय और निष्क्रिय, सचल और अचल, इन दोनों सत्ताओं का अनुभव होता है। किन्तु क्षर और अक्षर को परस्पर सम्पूर्ण रूप से विपरीत और विरोधी समझ कर ऐसा जान पड़ता है कि इनमें किसी सम्बन्ध की धारणा करना हमारे लिए कठिन बात है। सांख्य ने जो पुरुष और प्रकृति के बीच चिर द्वैत कल्पना की है, पुरुष निष्क्रिय, प्रकृति ही सब कर्म करती है, पुरुष और प्रकृति सम्पूर्ण विभिन्न और स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, एक अक्षर दूसरी क्षर है, यह बात मन में पहले अधिकतर सङ्गत जँचती है। हम प्रकृति से लौटकर अन्तर में इस अक्षर सत्ता का अनुभव करें और जिस हेतु से प्रत्येक पुरुष अपनी सत्ता में पूर्ण अनन्त प्रतिष्ठित है उसी हेतु से और जीवों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु वस्तुतः यह हमारी चरम अनुभूति नहीं है, वह अनुभूति होगी सब जीवों और भूतों के साथ मूल सत्ता में हमारा ऐक्य—'*सर्व्वभूतात्मभूतात्मा*' नाम रूप के इस अनन्त वैचित्र्य के पीछे जो एक आत्मा है उसके साथ

हमारा तादात्म्य-बोध। उपनिषद् की तरह गीता भी इस उच्चतम अध्यात्म की उपलब्धि पर प्रतिष्ठित है। गीता सांख्य की तरह बद्ध जीव की नित्यता स्वीकार करती हो ऐसा मालूम होता है, गीता अनन्त के बीच जीव की व्यक्तिगत सत्ता का सम्पूर्ण रूप से लय होने की बात कहीं नहीं कहती। किन्तु यह होने पर भी गीता ने जोर देकर स्पष्ट रूप से कहा है कि अक्षर पुरुष ही इन सब जीवों की एक आत्मा है, अतएव यह स्पष्ट है कि ये दोनों पुरुष शाश्वत विश्वसत्ता के द्वैत भाव हैं (A Dual Status)।

किन्तु यह महत्तर ज्ञान और उपलब्धि हमारी उच्चतम दृष्टि में कितने ही सत्य हों, हृदयग्राही हों, व्यवहार और युक्ति की दृष्टि से यहाँ जो विरोध है उसका समाधान करना वास्तव में एक गुरुतर समस्या है। अपने भीतर और बाहर हम अनवरत रूप जिस परिवर्तन और सचलता का अनुभव करते हैं— "*नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्*" यह जो अक्षर की अनुभूति है उससे शाश्वत पुरुष भिन्न है, इसकी अपेक्षा भी एक महत्तर चेतना है—"*न इदम् यद् उपासते* (केन उपनिषद्); अपि च जिसके साथ ही यह सब होता है वही शाश्वत पुरुष है, यह सभी आत्मा का चिरन्तन आत्मदर्शन हैं—"*सर्व्वं खलु इदं ब्रह्म*", "*अयम् आत्मा ब्रह्म*" (माण्डूक्य उपनिषद्)। शाश्वत पुरुष ही सर्वभूत हुआ है—"*आत्मा अभूत् सर्व्वभूतानि*" ( ईश

उपनिषद्)। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने जैसे कहा है—तुम्हीं कुम्हार तुम्हीं कुम्हारी, तुम्हीं वृद्ध हाथ में दण्ड लेकर चलते हो; ठीक इसी प्रकार गीता में भगवान् ने कहा है—वे ही कृष्ण और अर्जुन व्यास और उष्णा, वे ही सिंह वे ही अश्वत्थ वृक्ष, वे ही सकल जीव की चेतना, बुद्धि, सकल गुण और अन्तरात्मा हैं। किन्तु ये दो पुरुष किस प्रकार एक हैं? इतना ही नहीं कि ये दो स्वरूप विपरीत हैं उनको उपलब्धि द्वारा भी एक कर लेना कठिन है। कारण, जब हम विवर्तन की चञ्चलता में रहते हैं तब कालातीत स्वप्रतिष्ठित सत्ता के अमृतत्व-सम्बन्ध में सज्ञान होते हुए भी उसके बीच में हम प्रतिष्ठित हो वास कर सकेंगे यह सन्देहजनक है और जब हम कालातीत सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब काल, देश और घटना हमारे पास से दूर हो जाते हैं और अनन्त के बीच में एक दुःस्वप्न की तरह भासित होने लगते हैं। सर्वापेक्षा सहज-बोध-सिद्धान्त प्रथम दृष्टि से यही सिद्धन्त जँचता है कि प्रकृति से पुरुष को जो चञ्चलता होती है वह भ्रांति है, जितनी देर हम प्रकृति में वास करते हैं उतनी ही देर के लिए वह सत्य मालूम होती है वास्तव में वह सत्य नहीं है। और इसी कारण से जब प्रकृति से निकल कर हम आत्मा में लौट आते हैं तो वह हमारी निष्कलङ्क मूल सत्ता से दूर हो जाती है। शंकराचार्य ने इस समस्या का इस प्रकार समाधान किया है,—"*ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या*"।

इसी से शंकर के मतानुसार निर्गुण, निरुपाधिक, निष्क्रिय ब्रह्म ही परम सत्ता है। सगुण ब्रह्म में माया का खेल चलता है अतएव वह निम्नतर है। गीता में पुरुषोत्तम का जो वर्णन है वे ही इस जगत्‌रूप से प्रगट होते हैं, जगत् कार्य का परिचालन करते हैं, युग युग में मानवरूप से अवतीर्ण होकर मनुष्य को अपने दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का आदर्श दिखाते हैं— यही शंकर के मत से सगुण ब्रह्म वा ईश्वर है और निर्गुण ब्रह्म की निम्नतर सत्ता है। किन्तु गीता ने यह भी कहा है कि पुरुषोत्तम क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर है, अतएव इस अक्षर को ब्रह्म कह कर ग्रहण करने से शंकर का अपना मत ठहर नहीं पाता, इसीलिए उन्होंने कहा कि अक्षर माया शक्ति है। किन्तु गीता में स्पष्ट ही अक्षर को पुरुष नाम दिया है और अन्यत्र अक्षर को ब्रह्म भी कहा है—'*अक्षरं ब्रह्म परमम्*'*। और

एक स्थान में स्पष्ट ही कहा है कि पुरुषोत्तम ब्रह्म की अपेक्षा बड़ा है, वह ब्रह्म की प्रतिष्ठा-स्वरूप है।

*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च* ॥१४।२७॥

---

* गीता ने जो अक्षर को ब्रह्म परमम् कहा है उसका अर्थ यह नहीं कि यह अक्षर पुरुष की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है; अक्षर है प्रकृति की क्षर लीला के ऊपर इसीलिए उसको परम कहा गया है, यो बुद्धेः परतः सः। पुरुषोत्तम अपनी सर्वश्रेष्ठ सत्ता में अक्षर है सही किन्तु वह अव्यक्त अक्षर है और यहाँ जिस अक्षर पुरुष की बात कही गई है वह इस व्यक्त जगत की प्रतिष्ठा-स्वरूप है, द्वाविमौ पुरुषौ लोके।

गीता में श्रीकृष्ण ने सर्वत्र "अहम्" "माम" कहकर तुरुषोत्तम को ही बताया है और इसी पुरुषोत्तम को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व कहा है; वही परमेश्वर, परमात्मा, परब्रह्म है—

*मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय* ||७/७||

जगत् में क्षर और अक्षर का आपातः विरोध दिखाई देता है उसका समाधान करते हुए गीता ने शंकर की तरह माया-वाद का आश्रय ग्रहण नहीं किया। गीता माया की बात कहती है सही किन्तु गीता के मत से वह है केवल एक भ्रांति-उत्पादक आंशिक चेतना, वह पूर्ण सत्य को धारण नहीं कर सकती, चञ्चला प्रकृति के सकल व्यापार के बीच में वास करती है। जिस पुरुष की वह सक्रिय शक्ति है—'*मे प्रकृतिः*' उसको वह देख नहीं सकती। जब हम इस माया को अतिक्रम करते हैं तब जगत् लुप्त नहीं हो जाता, केवल उसके समग्र अर्थ का परिवर्तन हो जाता है। अध्यात्मदृष्टि प्राप्त कर हम यह नहीं देखते हैं कि इस सब का कोई अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु यह देखते हैं कि सभी हैं किन्तु जिस अर्थ में है वह वर्तमान भ्रान्त अर्थ की अपेक्षा बिलकुल भिन्न है: सभी भागवत आत्मा, भागवत सत्ता, भागवत प्रकृति और सभी वासुदेव है। गीता की दृष्टि में जगत् सत्य है, वह ईश्वर की सृष्टि, शाश्वत की शक्ति, परब्रह्म का प्राकट्य है। यहाँ तक कि त्रिगुणमयी माया रूप जो निम्नतर प्रकृति है वह भी परा भागवत प्रकृति से उत्पन्न हुई है। यहाँ जो दो

सत्ताएँ कही गई हैं उनके भेद को हम भले प्रकार ग्रहण नहीं कर पाते। एक तो निम्नतम सक्रिय और अनित्य सत्ता है, और दूसरी ऊर्द्धतन कर्म से अतीत शान्त, शुद्ध, शाश्वत सद् वस्तु है। और हमारी मुक्ति का अर्थ यही है कि इस आंशिक सत्ता से ऊपर उठकर महत् सत्ता में पहुँचना, और कर्म से नीरवता में प्रतिष्ठित हो जाना। गीता जोर देकर कहती है कि जब तक हमारा जीवन है तब तक हमको अपनी आत्मा और उसकी निरवता में सचेतन होकर रहना होगा, तभी प्राकृत जगत् में शक्ति के साथ कर्म कर सकेंगे, और इस प्रकार कर्म करना ही कर्तव्य है। गीता ने स्वयं भगवान् का ही दृष्टान्त दिया है, वे जन्म-ग्रहण के लिए बद्ध नहीं हैं, वे मुक्त हैं और विश्व प्रपञ्च के अतीत हैं तो भी वे चिरकाल से कर्म में रत हैं, '*वर्त एव च कर्मणि*'। अतएव समस्त भागवत प्रकृति का साधर्म्य-लाभ करने ही से इस द्वैत के द्वारा सम्पूर्ण भाव से एकत्व की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु इस एकत्व का मूल सूत्र क्या है ?

पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में जो गीता का परम सिद्धान्त है उसी में हम को इस एकत्व का सूत्र मिलता है। गीता के मत से पूर्ण या उच्चतम उपलब्धि या आदर्श इसी एकत्व की प्राप्ति में है। पूर्ण ज्ञानी का ज्ञान यही है। जिस समग्र ज्ञान की बात गीता ने कही है वह दुर्लभ और गुह्यतम शास्त्र है। क्योंकि वह सत्य को खण्ड खण्ड कर देखता है समग्र भाव से देखना नहीं

बनता। गीताकथित समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए कृत्स्नविद् होना होगा और हमको मन बुद्धि से ऊपर उठ कर अति-मानस सत्य में प्रतिष्ठित होना होगा। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की दार्शनिक चिन्ताधारा इस समग्र सत्य के किसी एक अंश विशेष पर जोर देकर रह जाती है। शंकर ने जिस प्रकार अक्षर भाव या निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विशेष ब्रह्म पर जोर दिया गया है वैसे ही पाश्चात्य दर्शन में क्षरभाव या सगुण, सक्रिय, सविशेष ब्रह्म पर जोर दिया गया है प्लेटो के विकासशील भगवान् (Esomenos Theos)*, स्पिनोज़ा का सब्सटैंस (Substance,) हेगेल का अब्सोल्यूट ( Absolute ) शोपनहायर की विल ( Will ) बर्गसाँ का इलान विटान ( Elan Vital ) ये सब क्षर पुरुष या सगुण ब्रह्म हैं। प्लेटो का कहना है कि उच्चतम सत्य उच्चतम सक्रियता है; स्पिनोज़ा कहता है कि जैसे वृत्त (Circle) के बीच में व्यासार्द्ध (Radii) अवश्यम्भावी है वैसे ही भगवान् में कर्म अवश्यम्भावी है। फिश्टे (Fichte) का कहना है कि शुद्ध, निर्गुण, निष्क्रिय जैसी कोई सत्ता नहीं है, हम जिसको अचल अक्षर सत्ता कहते हैं वह एक भ्रान्ति मात्र (Illusion) है। हेगेल का कहना है कि परब्रह्म ( Absolute ) एक गति या क्रिया है। एक प्रकार का विवर्त्तन है। समग्र पाश्चात्य चिन्ताधारा और जीवनधारा इसी शिक्षा से प्रभावित हैं। आधुनिक

* The God who is to be.

विज्ञान का श्रेष्ठ तत्व आइन्सटाइन का आपेक्षिकतावाद ( Law of Relativity ) भी इसी दार्शनिक मत की वैज्ञानिक विवृति है कि इस जगत् में स्थायी या अचल कुछ भी नहीं है। जैसे एक ही स्रोत में कोई दो बार स्नान नहीं कर सकता वैसे एक स्थान में दो बार हम अपना हाथ नहीं रख सकते। जो एक वस्तु के सम्बन्ध में अचल है वही दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में सचल है। चलते हुए जहाज के डेक पर जब हम भ्रमण करते हैं तब हमारे सम्बन्ध में जहाज सचल है और हम अचल, समुद्र के सम्बन्ध में जहाज सचल है और समुद्र अचल और सूर्य के सम्बन्ध में यह समग्र पृथ्वी सचल है, और उसी प्रकार नक्षत्रों के सम्बन्ध में सौर जगत् सचल है और सभी चीजें चलायमान हैं। इस सचलता का न आदि है, न अन्त और वह विश्वव्यापी है। इस विश्वव्यापी स्थिति और गति का गणित से हिसाब कर जो अपने लिए प्रयोजनीय सूत्र ( Formula ) आइन्सटाइन ने बनाया है वही आपेक्षिकतावाद ( Law of Relativity ) है।*

---

* आधुनिकतम विज्ञान का मत है कि इस सूत्र को और भी सूक्ष्म और व्यापक बनाया जा सकता है। आइन्सटाइन ने जड़ जगत् को देख कर जिस आपेक्षिकतावाद को ग्रहण किया है उसी को भारत के प्राचीन ऋषियों ने अन्तरजगत् की अनुभूति से प्राप्त किया था और आइन्सटाइन से अधिक व्यापक भाव से उसे देखा था। उन्होंने देखा कि साधारणत: स्थिति और गति, देश और काल से जो कुछ हम समझते हैं उनकी केवल व्यवहारिक सत्ता है। जो प्रकृत सद् वस्तु है वह इनकी धारणा से अतीत है। ईशोपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में यह कहा गया है,

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

"वह चलता है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और निकट भी; वह इन सकल वस्तुओं के भीतर और सबके बाहर भी है।" गीता में भी हमको ऐसा ही वर्णन मिलता है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१३।१५॥

हम देख चुके हैं कि बाह्य जगत् के इस तथ्य को गीता ने बहुत स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ॥३।५॥

प्लेटो और स्पिनोज़ा की तरह गीता भी कहती है कि सक्रियता ( Activity ) भगवद्-सत्ता का अन्तर्निहित धर्म है—"वर्त्त एव च कर्म्मणि"। किन्तु गीता ने यह भी दिखाया है कि सक्रियता या कर्म जैसे भगवत्-सत्ता में अन्तर्निहित है वैसे ही निष्क्रियता या नैष्कर्म्य भी उसमें अन्तर्निहित है। इन दोनों को लेकर ही ब्रह्म होता है या ये ब्रह्म के दो पहलू हैं। गीता का यह सिद्धान्त चाहे युक्तिसंगत न मालूम हो परन्तु वह गभीरतम अध्यात्म अनुभूति पर प्रतिष्ठित है। जगत् के चर रूप को प्रत्यक्ष भाव से जैसे हम अनुभव करते हैं वैसे ही गभीर आत्मानुभूति से हम एक अनन्त, अक्षर, अचल, अक्रिय सत्ता का अनुभव

करते हैं। शंकर की दृष्टि में पिछली सत्ता की अनुभूति बल-वान् है और पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए प्रथमोक्त अनुभूति बलवान् है। और गीता की उच्चतम अनुभूति से ये दोनों ही एक ही सत्य के दो पहलू हैं और श्रुति में भी हमको सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों का वर्णन मिलता है। उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्म को दोनों भावों से प्राप्त किया था। आधुनिक युग के ऋषि रामकृष्ण का भी यही अनुभव था, "स्थिर हो वा अस्थिर जल तो जल ही है" अर्थात् ब्रह्म दोनों है—सगुण और निर्गुण।

अचल अक्षर निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति केवल भारतवासियों ही को हुई हो ऐसी बात नहीं है, प्राचीन ग्रीक इलिएटिक (Eleatic) सम्प्रदाय में भी इस अनुभूति का हमको परिचय मिलता है। इस सम्प्रदाय के प्रधान दार्शनिक परमिनाइडीज (Parmenides) के मत से भगवान में कोई परिवर्तन नहीं होता, और जो कुछ है सब भगवान् होने से जिसको परिवर्तन कहते हैं वह भ्रान्ति है, वस्तुतः उत्पत्ति या लय कुछ नहीं है। उसने युक्ति द्वारा दिखाया है कि एक मात्र अनन्त सत्ता ही सत्य है, समस्त परिवर्तन, बहुत्व, खण्डत्व अन्तर्विरोधपूर्ण हैं। यह जगत् मिथ्या और माया है। उसके शिष्य ज़ेनो (Zeno) ने शंकराचार्य की तरह कूटतर्क से प्रमाणित किया है कि सब प्रकार की गति, परिवर्तन, सक्रियता, मिथ्या भ्रान्ति है। किन्तु

इलिएटिक सम्प्रदाय का यह मत पाश्चात्य देशों में प्रतिष्ठित न हो सका। अन्तिम ग्रीक दार्शनिक हिराक्लिटस (Heraclitus) ने कहा है कि अविराम परिवर्तन (Perpetual flux) सत्य है, इस जगत् में स्थिर, अचल, अक्षर कुछ भी नहीं है। पाश्चात्य दर्शन की चिन्ताधारा और उसके साथ समस्त जीवन और कर्म धारा को इसी अविराम गति के सिद्धान्त ने निर्धारित किया है। इन दोनों मतों का पिथागोरस, प्लेटो और एरिस्टाटल ने कुछ अंशों में समन्वय किया है। पिथागोरस का मत है कि जिन सकल वस्तुओं को लेकर यह जगत् गठित हुआ है वे सब अपनी सत्ता में अचल, अक्षर, अपरिवर्तनीय हैं, केवल उनके परस्पर सम्बन्ध में परिवर्तन होता है और इसी प्रकार से जगत् की क्षर लीला उत्पन्न होती है। प्लेटो* हिराक्लिटस की तरह विश्वास करता था कि इस दृश्य जगत् में कुछ भी स्थिर नहीं है सभी अनवरत परिवर्तित होता है; किन्तु इस दृश्य जगत् के ऊपर उसको एक भाव जगत् का पता मिला था। उसके मत से सत्य शिव, सुन्दर आदि भाव (Idea) शाश्वत, अपरिवर्तनीय और सद् वस्तु है। इन सब भावों से ईश्वर की भावना होती है। बाह्य दृश्य जगत् इन भावों को रूप देने या व्यक्त करने का निरन्तर प्रयास करता है। बाह्य जगत् में हम जो कुछ भी सत्य

---

* पिथागोरस का यह मत पाश्चात्य मोनाडिज्म (Monadism) की भित्ति है।

शिव सुन्दर देखते हैं वह सब इस दिव्य भावलोक की क्षीण प्रतिच्छाया है। प्लेटो के दर्शन में हमको तीन तत्त्व मिलते हैं भगवान्, भाव (Idea) और जड़ पदार्थ; भगवान् ने इस भाव के अनुसार जड़ जगत् का क्रमशः सृष्टि-प्रसार किया है और यह जड़ जगत् है (a process of becoming)। वेदान्त की भाषा में प्लेटो के भाव (Idea) को भगवान् की चित्‌शक्ति कह सकते हैं। प्लेटो के मत से यह (Idea) सर्जनशक्ति है, जिस शक्ति को कभी वह भगवान् के ऊपर स्थान देता है और कभी निम्न स्थान देता है। फिर भी प्लेटो के अन्यान्य वर्णन से ऐसा समझ में आता है कि उसके मत से भगवान् और उनका भाव (Idea) या चित्‌शक्ति अभिन्न हैं और यही सिद्धान्त वेदान्त का है। केवल यह दृश्य जगत् ही प्लेटो के लिए एक समस्या हो गई थी। यह जगत् असत्य, अशिव और असुन्दर है, इसकी व्याख्या केवल भगवान् की चित्‌शक्ति के द्वारा नहीं हो सकती और ऐसा जान पड़ता है कि उस सर्जनशक्ति का उपादान-स्वरूप जड़ जगत् उसको बराबर बाधा देता है और उसके कार्य को व्यर्थ कर देता है। इसी कारण से प्लेटो को चित्‌शक्ति की तरह इस अचित् जड़ को भी अनादि तत्त्व मानकर स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार कुछ अंश में सांख्य के पुरुष प्रकृति के द्वैत को प्लेटो ने स्वीकार किया है*। सांख्य के पुरुष और

* तो फिर सांख्य का चेतन पुरुष निष्क्रिय और जड प्रकृति सक्रिय है; प्लेटो का भगवान् और उनकी चित्‌शक्ति सक्रिय और उनकी सृष्टि

प्रकृति जैसे दोनों अनादि, अनन्त हैं प्लेटो का भाव (Idea) और जड़ (Matter) चित् और अचित् भी अनादि और अनन्त हैं; और इन दोनों के संयोग से यह विश्वजगत्, यह दृश्य विवर्तनशील भगवान् (क्षर पुरुष) उत्पन्न होता है। किन्तु यदि चित् और अचित् बिलकुल विभिन्न पदार्थ हैं तो उनका संयोग कैसे सम्भव हो सकता है ? हम देख चुके हैं कि सांख्य इस बात का कोई उत्तर नहीं देता, किन्तु वेदान्त ने इसका समाधान किया है कि दोनों मूलतः एक ही वस्तु है। प्लेटो के शिष्य एरिस्टाटल ने जिस प्रकार समाधान किया है उसका आभास गीता के समन्वय में मिलता है। उसने बताया कि चित्शक्ति का नीचे का रूप ही अचित् होता है, वह क्रमशः विवर्तन के द्वारा ऊपर के सत्य स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यह जो विकास है एरिस्टाटल के मत से भगवान् का नहीं है। भगवान् तो पूर्ण और आदर्श हैं। यदि वे अपूर्ण होते तो पूर्णता की ओर उनको चलाने के लिए एक और भगवान् की आवश्यकता हो जाती। किन्तु भगवान् हैं परात्पर एक और अपने आप ही पूर्ण; वे ही जगत् के काल हैं और वे ही जगत् के लक्ष्यस्थल। वे सब सकल वस्तुओं में अपनी सार-

---

का उपादान जड़-प्रकृति निष्क्रिय (passive) हैं। मध्वाचार्य ने वेदान्त की जो व्याख्या की है उसको द्वैतवाद कहा जाता है, प्लेटो का दार्शनिक मत उनसे मिलता है।

सत्ता रूप से पिरोए हुए हैं, अथच वे सब वस्तुओं से ऊपर विश्वातीत हैं। वे स्वयं अचल अक्षर रहते हुए जगत् को चलाते हैं। किन्तु यह कैसे सम्भव है? जैसे एक सुन्दर चित्र स्वयं पूर्ण अविचल रहते हुए हमको विचलित कर देता है, एक सुन्दर आदर्श जैसे हमको कर्म में प्रवृत्त कर देता है, उसी प्रकार भगवान् की अनादि चित्शक्ति जगत् को चलाती है और इस काम के लिए भगवान् को विचलित नहीं होना पड़ता।

एरिस्टाटल के इस सिद्धान्त का गीता से सादृश्य स्पष्ट है, उसके भगवान् गीता के पुरुषोत्तम के अनुरूप हैं, उसका सनातन भाव (Eternal Idea) गीता की परा प्रकृति और उसका अचित् गीता की अपरा प्रकृति है। गीता ने मनुष्य-जीवन का लक्ष्य बताया है कि वह अपरा प्रकृति के बीच से अपने वर्तमान जीवन का रूपान्तर कर परा प्रकृति में भगवान् का साधर्म्य प्राप्त करे। एरिस्टाटल और प्लेटो का कहना है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य भगवान् की न्यायपूर्णता का लाभ करना है*।

भारतीय आर्यदर्शन का समन्वय और परिणति जैसे गीता में हुए हैं वैसे ही ग्रीक दर्शन के समन्वय और परिणति एरिस्टाटल में हुई है। ये दोनों ही प्रायः समकालीन हैं इसके बाद दोनों देश की दार्शनिक चिन्ताधारा दो विपरीत पथ पर

* इस मत की प्रतिध्वनि क्राइस्ट के शब्दों में मिलती है, "Be perfect as your Father in Heaven is perfect."

प्रकृति जैसे दोनों अनादि, अनन्त हैं प्लेटो का भाव (Idea) और जड़ (Matter) चित् और अचित् भी अनादि और अनन्त हैं; और इन दोनों के संयोग से यह विश्वजगत्, यह दृश्य विवर्तनशील भगवान् (क्षर पुरुष) उत्पन्न होता है। किन्तु यदि चित् और अचित् बिलकुल विभिन्न पदार्थ हैं तो उनका संयोग कैसे सम्भव हो सकता है? हम देख चुके हैं कि सांख्य इस बात का कोई उत्तर नहीं देता, किन्तु वेदान्त ने इसका समाधान किया है कि दोनों मूलतः एक ही वस्तु है। प्लेटो के शिष्य एरिस्टाटल ने जिस प्रकार समाधान किया है उसका आभास गीता के समन्वय में मिलता है। उसने बताया कि चित्शक्ति का नीचे का रूप ही अचित् होता है, वह क्रमशः विवर्तन के द्वारा ऊपर के सत्य स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यह जो विकास है एरिस्टाटल के मत से भगवान् का नहीं है। भगवान् तो पूर्ण और आदर्श हैं। यदि वे अपूर्ण होते तो पूर्णता की ओर उनको चलाने के लिए एक और भगवान् की आवश्यकता हो जाती। किन्तु भगवान् हैं परात्पर एक और अपने आप ही पूर्ण; वे ही जगत् के कारण हैं और वे ही जगत् के लक्ष्यस्थल। वे सब सकल वस्तुओं में अपनी सार-

---

का उपादान जड़-प्रकृति निष्क्रिय (passive) है। मध्वाचार्य ने वेदान्त की जो व्याख्या की है उसको द्वैतवाद कहा जाता है, प्लेटो का दार्शनिक मत उनसे मिलता है।

सत्ता रूप से पिरोए हुए हैं, अथच वे सब वस्तुओं से ऊपर विश्वातीत हैं। वे स्वयं अचल अक्षर रहते हुए जगत् को चलाते हैं। किन्तु यह कैसे सम्भव है ? जैसे एक सुन्दर चित्र स्वयं पूर्ण अविचल रहते हुए हमको विचलित कर देता है, एक सुन्दर आदर्श जैसे हमको कर्म में प्रवृत्त कर देता है, उसी प्रकार भगवान् की अनादि चित्शक्ति जगत् को चलाती है और इस काम के लिए भगवान् को विचलित नहीं होना पड़ता।

एरिस्टाटल के इस सिद्धान्त का गीता से सादृश्य स्पष्ट है, उसके भगवान् गीता के पुरुषोत्तम के अनुरूप हैं, उसका सनातन भाव (Eternal Idea) गीता की परा प्रकृति और उसका अचित् गीता की अपरा प्रकृति है। गीता ने मनुष्य-जीवन का लक्ष्य बताया है कि वह अपरा प्रकृति के बीच से अपने वर्तमान जीवन का रूपान्तर कर परा प्रकृति में भगवान् का साधर्म्य प्राप्त करे। एरिस्टाटल और प्लेटो का कहना है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य भगवान् की न्यायपूर्णता का लाभ करना है*।

भारतीय आर्यदर्शन का समन्वय और परिणति जैसे गीता में हुए हैं वैसे ही ग्रीक दर्शन के समन्वय और परिणति एरिस्टाटल में हुई है। ये दोनों ही प्रायः समकालीन हैं इसके बाद दोनों देश की दार्शनिक चिन्ताधारा दो विपरीत पथ पर

---

* इस मत की प्रतिध्वनि क्राइस्ट के शब्दों में मिलती है, "Be perfect as your Father in Heaven is perfect."

चलने लगी, योरप चला है चर की ओर और भारत अचर की ओर। फिर, *'यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी'*। पश्चिम क्रमशः अधिकाधिक बहिर्मुखी होकर जड़वाद और ऐहिकता में डूब गया है, और भारत अन्तर्मुखी होकर जीवन और कर्म की अवहेलना करता है, और उसने अचर आत्मा की चिर शान्ति और नैष्कर्म्य में आत्मनिर्वाण परम सत्य और लक्ष्य समझ कर उसको ग्रहण किया है। श्रीरामकृष्ण ने एक बार ऐसा सुना था कि जगन्माता ने उनसे जिज्ञासा की "क्या तू अचर से कोई चीज चाहता है ?" भारत ने जो अचर से चाहा सो ही मायावाद ( Passivism ) संसार से वैराग्य, संन्यास मिला; और पाश्चात्य ने चर से माँगा तो उसको मिली सक्रियता, (Activism) तीव्र जीवन-लीला। और यह भेद कुछ निरर्थक नहीं है इसमें भगवान् की इच्छा की एक निगूढ़ क्रिया देखने को मिलती है। मानव-जाति को पूर्णता प्राप्त करने के लिए क्षर और अक्षर दोनों ही को भले प्रकार जानना होगा तभी वह पुरुषोत्तम भाव को प्राप्त होगा और दोनों के पूर्णतम समन्वय द्वारा सिद्धि मिल सकेगी। किन्तु मानव-जाति को यदि एक एक करके इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करना होता तो उसमें बहुत समय लग जाता। यहाँ तक कि एक ओर पूर्ण रूप से अग्रसर होते दूसरी ओर विपरीत दशा में प्रत्यावर्तन करना अतिशय कठिन हो जाता। यह कार्य कितना कठिन होता इसको हम वर्तमान

भारतीय और पाश्चात्य जीवनधारा में कैसे बहे जा रहे हैं उसी से अनुमान कर सकते हैं। भारत में आज भी मायावाद और जीवन-त्याग के मोह को छुड़ाना सम्भव नहीं हो सका। बुद्ध शंकर चैतन्य की बात छोड़ दीजिए, श्रीरामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द भी संसार-त्याग और संन्यास के माहात्म्य और आदर्श का प्रचार कर गए हैं*। दूसरी ओर जड़वाद, ऐहिक सुखवाद का भीषण परिणाम होते हुए भी पाश्चात्य जातियों के लिए आज भी अन्तर्मुखी हो अध्यात्म-जीवन की ओर लौटना अतिशय कठिन हो गया है। आज प्रकृति ने भारत और पाश्चात्य लोगों में अति निकट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इससे एक दूसरे की सहायता कर अपनी अपनी त्रुटि और अपूर्णता का संशो-

* स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में सिस्टर क्रिस्ताइन ( Sister Christine ) अपनी आत्मकहानी में लिखती है—To hear him say " This indecent clinging to life, " drew aside the curtain for us into the region beyond life and death and planted in our hearts the desire for that glorious freedom. We saw a soul struggling to escape the Meshes of maya, one to whom the body was anintolerable bondage, not only a limitation but a degrading humiliation......The end to be attained was Freedom from the bondage in which Maya has caught us, in which Maya has enmeshed all mankind.—**Probuddha Bharat,** May, 1931.

धन कर लेना दोनों के लिए सम्भव हो गया है। आध्यात्मिकता तो अवश्य चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देह और जीवन का विषवत् परित्याग किया जाय। आवश्यकता है दोषत्रुटि-पूर्ण देह, प्राण, मन के अध्यात्म-रूपान्तर की और पूर्णता-साधन की। इसी लिए एक ऐसे युग की आवश्यकता थी जो जड़ और दैहिक जीवन को ही प्रधानता दे और युक्ति तर्क के द्वारा इस जड़ जगत् के सत्य का आविष्कार करे और जड़ और देह को शत्रु समझकर उससे न भय करे, न घृणा और उसके छोड़ने की कभी इच्छा न करे। इसी से आधुनिक जड़वाद और विज्ञानमूलक सभ्यता की सार्थकता है। इसमें प्रत्येक वस्तु को यहाँ तक कि बुद्धि को भी जड़भावापन्न कर अध्यात्म-साधन के पथ को कठिन कर डाला है; किन्तु दूसरे पक्ष में इस जड़ और देह के जीवन को जो प्राधान्य दिया गया है वह प्राचीन आध्यात्मिकता द्वारा अस्वीकृत था। अब हमारे अध्यात्म-साधन का लक्ष्य यह है कि इस दैहिक जीवन का परित्याग न किया जाय, न संसार-त्याग कर संन्यास ग्रहण किया जाय बल्कि ऊर्ध्व की अध्यात्म-शक्ति का अवतरण कर इनके दिव्य रूपान्तर के द्वारा इस मिट्टी की पृथ्वी को ही स्वर्ग राज्य में प्रतिष्ठित किया जाय। पाश्चात्य सभ्यता का तीव्र संस्पर्श न होता तो अध्यात्म-साधना का यह पथ पकड़ना हमारे लिए सम्भव न होता। अब तक हमारे कवियों ने यह गान किया

किन्तु आज सुर बदला है। हमारे एक अति आधुनिक कवि कहते हैं–विश्व कवि के हृदय की यह आकूति हम सुनते हैं।

आधुनिक कवि का यदि हम भाव जानना चाहें तो उनकी आकृति और अकांक्षा का अध्यात्म गीता में मिलेगा। गीता ने कहीं भी इस देह से घृणा करने को नहीं कहा, न इस को छोड़ कर जाने का प्रयोजन स्वीकार किया है। गीता स्पष्ट कहती है कि इस मानव-देह के भीतर ही भगवान् रहते हैं, '*मानुषीम् तनुमाश्रितम्*', इस मानव-देह में स्थित भगवान् की जो अवज्ञा करते हैं वे मूढ़ हैं, जो इस देह का पीड़न करते हैं वे आसुरी हैं। गीता कहती है इस जगत् में इन्द्रिय-भोग जो कुछ है उसका सार-तत्त्व स्वयं भगवान् हैं, '*रसोऽहमप्सु, पुण्यो गन्धः पृथिव्याश्च*'। इस संसार में सुन्दर शक्तिमान ऐश्वर्य-मय जो कुछ भी है या होता है वह सब भगवान् की विभूति और उन्हीं का विशेष विकास है। भगवान् का इस जड़ जगत् में ही आविष्कार करना होगा, उनको प्रगट करना होगा, और इस मर्त्य जीवन को ही अमृतत्व में परिणत कर पृथ्वी से दिव्य-भोग और दिव्य-जीवन प्राप्त करना होगा, *भुंक्ष्वराज्यं समृद्धम्*'।

तंत्र और वैष्णव-धर्म ने अपने अपने भाव से गीता के दिव्य भोग के आदर्श को ग्रहण करने की चेष्टा की थी। कहा है, "कृष्ण की जितनी लीलाएँ हैं उनमें सर्वोत्तम नर-लीला है जिसमें नर-देह उनका सहायक हुआ है।"

किंतु तंत्र और वैष्णव-धर्म भी इस विषय में गीता की शिक्षा को समग्र भाव से नहीं ग्रहण कर सके। एक तो अशुद्ध दैहिक भोग तीव्र आकर्षण से व्यभिचार में पतित हुए हैं, या दूसरे मायावाद के प्रभाव से न बचकर जीवन-त्याग और संन्यास के द्वारा आध्यात्मिक बृन्दावन का पता लगाने लगे।

पाश्चात्य देशों में भी संसार-त्याग और संन्यास की ओर एक श्रोत बहा है। वहाँ की जातियों को कुछ अंश में आध्यात्मिकता के लिए तैयार कर रक्खा है। मध्य युग में क्रिस्तान संन्यासियों ने कृच्छ्र-साधन और देह-निपीड़न में भारत के संन्यासियों को भी पीछे छोड़ दिया था। अब भी वहाँ अनेक मठधारी संन्यासी हैं। तथापि पाश्चात्य जीवन की मुख्य धारा कर्म की ओर या संसार की ओर ही है। इस पार्थिव-जीवन को पूर्ण भाव से उपभोग करना उसका लक्ष्य है। और भारत के लोग संसार-त्यागी न होते हुए भी संसार को मन में एक कारागार समझते हैं और उसे अशुभ मानते हैं। दूसरे पक्ष से पाश्चात्य धारणा में एक बहुत अच्छी बात है। वह यह विश्वास कि जगत् एक उच्चतर लक्ष्य या पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है। पाश्चात्य जाति की जो स्वाभाविक कर्मप्रेरणा है वही उनके इस आदर्श में विश्वास को दृढ़ बनाती है। हम देख चुके हैं कि यही प्लेटो और एरिस्टोटिल के दर्शन का मूल तत्त्व था। अपेक्षाकृत आधुनिक स्पिनोजा ने इस मत को ग्रहण नहीं

किया। उसके मत से जगत् के लिए ऐसा कोई उच्चतर लक्ष्य या उद्देश्य स्वीकार करना भगवान् की पूर्णता में बाधा करता है। इस जगत् रूप कर्म से भगवान् ने अपने किसी निजी अभाव वा त्रुटि को पूर्ण किया हो ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि भगवान् में कोई अभाव नहीं और वे अपने आप में पूर्ण हैं। तो फिर वे जो कर्म करते हैं यह उनका स्वभाव है। वेदान्त में भी जगत् को भगवान् की लीला (sport) कहा गया है; माया की अपेक्षा लीला शब्द द्वारा वेदान्त का भाव भले प्रकार प्रकट होता है। जगत् मिथ्या नहीं, माया नहीं, वह तो भगवान् का आत्मप्रकाश, आत्मदर्शन है और यह उनके किसी अभाव की पूर्ति करने के लिए नहीं है बल्कि उनकी लीला है*। किंतु जगत् को लीला कहने का यह मतलब नहीं कि इसका कोई अर्थ नहीं है और यह एक कल्पना मात्र है। मनुष्य जब खेल करता है तो उसका भी एक प्रकार से एक लक्ष्य (goal) होता है। जगत्-लीला की यह पद्धति, या लक्ष्य क्या है? यह जगत् यदि सच्चिदानन्द सत्य, शिव, सुन्दर भगवान् का प्रकाश है तो यह इतना असत्य, अशिव, असुन्दर क्यों; यहाँ शोक, दु:ख, जरा, व्याधि, मृत्यु क्यों हैं? प्लेटो ने कल्पना की है कि भगवान् को एक अचित् वस्तु के साथ

---

* न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥ ३ ॥२२

द्वन्द्व कर जगत् में अपने को प्रगट करना होता है, इसी से उनके सत्य स्वरूप का प्रकाश नहीं होता। वेद में देव और असुर-संग्राम, पारसी धर्म में आहुरमाज्दा और अहिर्मान का संग्राम और परवर्ती धर्मों में एक ओर भगवान् और उनके देवदूत और दूसरी ओर शैतान या इबलिस और उसके सहायक के बीच संग्राम—ये सब मूल में एक सी ही कल्पनाएँ हैं। किंतु भगवान् की प्रतिद्वन्द्वी किसी शक्ति की कल्पना करने से भगवान् की अनन्तता और पूर्णता में हानि होती है इसलिए भारत के किसी धर्म में ऐसी कल्पना को आश्रय नहीं दिया गया। संसार में अशुभ और दुःख के लिए भगवान् को छोड़ कर और किसी को उत्तरदायी बनाना और भगवान् के सम्बन्ध में हमारी मानवोचित धारणा को दूर रखने का प्रयास नहीं किया गया। गीता कहती है कि जैसे शुभ भगवान् से आया है वैसे अशुभ भी भगवान् से आया है; जगत् में संहार-मूर्ति भी भगवान् का एक रूप है। भगवान् कहते हैं कि वे ही आप सृष्टिकर्त्ता हैं और वे ही संहारकर्त्ता—

*मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥१०।३४॥*

जगत् में सात्विक, राजसिक जो कुछ भी है सभी भगवान् से आया है (७।१२)। यह अचित् और जड़ त्रिगुणात्मिका प्रकृति जो भगवान् के आत्म प्रकटन का उपादान या आधार है और जो प्रकटन को पद पद पर बाधा देती है वही भगवान् की

अपरा प्रकृति है। और जड़ के बीच अपने को विचित्र भाव से प्रकट करने के लिए भगवान् ने ही इस बाधा की सृष्टि की है। और जैसे यह बाधा दुरूह है वैसे ही इसको विचित्र और अतिक्रान्त करने पर जो सृष्टि होगी वह भी वैसी ही अभूतपूर्व, गौरवपूर्ण और आश्चर्यमय होगी। मनुष्य अपने मन बुद्धि से इस जगत्-लीला की और कोई अधिक संतोषजनक व्याख्या कर सकेंगे ऐसा समझ में नहीं आता।

बर्गसाँ का कहना है कि यह जगत् एक अपूर्व और अति आश्चर्यमय परिणति की ओर अग्रसर हुआ है। इसके मूल में जो शक्ति काम करती है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है और अन्त में यही प्राणशक्ति अपने चिर शत्रु जड़ पर जयी होकर रहेगी और इस मर्त्य जगत् में ही अमृतत्व की प्रतिष्ठा करेगी*। किन्तु यह होगा कैसे इस बात को बर्गसाँ ने कहीं नहीं बताया है परन्तु उनका मत यही है कि प्राणशक्ति को

---

* "The animal takes its stand on the plant, man bestrides animality, and the whole of humanity, in space and time, is one immense army galloping beside and before and behind each of us in an overwhelming charge able to beat down every resistance and clear the most formidable obstacles, perhaps even death"—Creative Evolution.

यथेष्ट समय मिलने पर आप ही आप परम वाञ्छनीय उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी।

किन्तु जो लोग गंभीरता से मानव-जीवन और जगत् को देखते हैं वे सब वर्गसाँ की तरह आशावादी नहीं हो जाते। पाश्चात्य देश में ही शोपेन हावर का आविर्भाव हुआ है। उसके मत से इस जगत् में एक अचित् इच्छा-शक्ति रहती है, यही इच्छा-शक्ति अनन्त जीवन की परम्परा और साथ साथ अनन्त दुःख की सृष्टि करती है। जीवन का अर्थ ही दुःख है; विशुद्ध सुख या आनन्द कवि की कल्पना मात्र है। केवल अभावात्मक कल्याण अर्थात् दुःख-निवृत्ति रूप मुक्ति प्राप्त करना सम्भव है और उपाय है जिजीविषा जीवनलीला के लिए प्रेरणा, (will to live) को निर्मूल कर देना। मनुष्य जब संसार का जीवन और उसके सुख सम्पत् की शून्यता, व्यर्थता का अनुभव करता है और जीवन की प्रवृत्ति को छोड़ देता है तभी वह मुक्त हो जाता है। शोपेनहावर को इस शिक्षा में भारतीय दुःखवाद का प्रभाव स्पष्ट है; और उसने आप ही मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि इस दुःखमय संसार में एकमात्र वेदान्त की शिक्षा से ही मैंने सच्ची शान्ति पायी थी। आधुनिक मनोविकलन शास्त्र (Psycho-analysis) मानव-चरित्र का विश्लेषण कर इसी तथ्य पर पहुँचा है। इस शास्त्र ने मनुष्य की अवचेतना में सब छिपी हुई वस्तुओं का पता लगाया है। वे सब हैं मनुष्य

के सुख और शान्ति के चिरविरोधी। काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, पर पीड़न-प्रवृत्ति ( Sadism ), आत्म पीड़न प्रवृत्ति ( Masochism ) ये सब मनुष्य की नस नस में व्याप्त हैं। जब तक ये मनुष्य में रहेंगी तब तक सभ्यता एक पद भी आगे नहीं बढ़ सकेगी, जहाँ तक आप आई है वहीं चिर काल तक घूमती रहेगी और ऊपर की ओर उठ न सकेगी। जो लोग संसार से युद्ध-विग्रह उठा देना चाहते हैं और शान्ति का राज्य या स्वर्गराज्य-स्थापन करना चाहते हैं उनके सर्व-प्रयास को मनुष्य की ये सब आसुरी प्रवृत्तियाँ व्यर्थ कर देंगी और यदि मनुष्य इन सब प्रवृत्तियों का दमन करने की चेष्टा करे तो उससे भी कल्याण न होगा। कारण, इस दमन-चेष्टा से मनुष्य की प्राणशक्ति नष्ट हो जायगी और मानव-जाति क्रमशः जड़त्व और मृत्यु की ओर अग्रसर होगी। हम बर्बरता की चाहे जितनी निंदा करें, बर्बरता में भी एक बड़ा भारी गुण यह है कि उसकी प्राणशक्ति प्रचुर है। प्राचीन ग्रीक जाति और भारतीय जाति बहुत सभ्य हो गई थीं, शास्त्र और विधि निषेध के प्रभाव से सकल नीच प्रवृत्ति को निग्रह करने और उनको जोर से दबाने के लिए चेष्टा की थी, परन्तु उसका परिणाम यह हुआ है कि एक तो मटियामेट होकर लुप्त हो गई है और दूसरी मरती जीती किसी प्रकार अभी तक टिक रही है। मनुष्य की प्राणशक्ति अक्षुण्ण रखने के लिए उसमें कुछ बर्बरता को

आश्रय देना पड़ेगा। युद्ध-विग्रह की नृशंसता यदि जगत् से उठ जाय तो मानव-जाति में शान्ति मृत्यु की शान्ति के समान होगी। आधुनिकतम पाश्चात्य मनोविज्ञान का यही सिद्धान्त है। गीता भी कुरुक्षेत्र के युद्ध में और विश्वरूप की संहार-मूर्ति में जगत् और मानव-जाति के इस अशुभ रूप को स्वीकार करती है, इसकी ओर आँख बन्द कर लेना दुर्बलता का सूचक होगा जब तक मनुष्य का हृदय ऊँचा उठ कर शान्ति के योग्य नहीं बनता तब तक प्रकृत शान्ति नहीं हो सकती। जब तक रुद्र का ऋण चुका न दिया जाय तब तक विष्णु के राज्य की प्रतिष्ठा हो नहीं सकती। ऐसा समय आने तक मनुष्य जो सब प्रकार की स्वार्थपरता और छिद्रान्वेषी शक्ति से पीड़ित है और अत्याचार सह रहा है वह अपनी अग्र गति के लिये भीषण और दुरूह संग्राम में वीर योद्धा की तलवार की सहायता माँगता है और महापुरुष की आशास्वरूपी वाणी सुनने की इच्छा करता है।

आधुनिक मनोविकलन शास्त्र मानवचरित के वर्तमान अशुभ रूप को ही देखता है। किन्तु उसका जो परिवर्तन और रूपान्तर हो रहा है उसका पता उसे नहीं चला। गीतोक्त साधना में हमको यह बात मिलती है। सांख्य ने जो जागतिक जीवन का विश्लेषण दिया है जगत् के वर्तमान अशुभ स्वरूप के वर्णन की दृष्टि से गीता ने उसे स्वीकार किया है। यह जगत् तीन गुणों का—सत्त्व, रजस्, तमस्—का खेल है। ये तीन

गुण परस्पर एक दूसरे पर क्रिया करते हैं, कभी सत्त्व प्रबल हो जाता है कभी रजस् और कभी तमस् और जिस प्रकार बाह्य जगत् में परिवर्तन होते हैं वैसे ही अन्तरजगत् में परिवर्तन होते हैं। मानवजाति में जो ज्ञान-विज्ञान की चर्चा सुनते है, साम्य, मैत्री, स्वाधीनता का आदर्श, सत्य, शिव, सुन्दर का आदर्श और इन आदर्शों के अनुसार मानव-जीवन के गठन का प्रयास ये सब सत्त्व गुण की क्रियाएँ हैं और जगत् में वासना और अहङ्कार का द्वन्द्व एक दूसरे पर अधिकार जमाने की चेष्टा, भोग की इच्छा और दूसरों को हड़प जाने की इच्छा और ऐसे भाव जो संसार में अशान्ति फैलाते हैं वे सब रजोगुण की क्रियाएँ हैं और उनके साथ एक प्रतिक्रिया भी देखी जाती है वह है अवसाद, अप्रवृत्ति, मोह, जड़ता और ये सब क्रियाएँ हैं तमोगुण की। देश और काल के भेद से कभी एक का और कभी दूसरे गुण का प्रभाव होता है, कोई एक स्थिर अवस्था में रहने नहीं पाता,

*पतन अभ्युदय बन्धुर पन्था*
*युग युग धावित यात्रि।*

मानव-जगत् में किसी समय सतोगुण का कितना ही प्राधान्य क्यों न हो सत्युग का आभास कितना ही प्रगट हो, मनुष्य सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उच्चतर स्वप्न देखा करे, दो दिन आगे हो या दो दिन बाद में रज और तम सत्त्व

को अभिभूत कर ही डालेंगे। इस जगत् में कोई लाभ स्थायी नहीं है, '*अनित्यं असुखं लोकम्*'। जो राजसिक प्रकृति के लोग हैं उनको यह द्वन्द्वमय जीवन ही अच्छा मालूम होता है और वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि इसकी अपेक्षा कोई उच्चतम समृद्धतर जीवन हो सकता है। उनके मत से यही जीवन का प्रकृत स्वरूप है। इसे छोड़ कर वे निर्वाण और मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते। जो लोग तामसिक प्रकृति के हैं उनमें जीवन के इस स्रोत के विरुद्ध खड़े होने की सामर्थ्य नहीं है, प्रवृत्ति भी नहीं हैं। वे भेड़ की तरह इस जीवन स्रोत में बहते चले जाते हैं। केवल उन्हीं लोगों को जिनमें सत्त्व गुण का विशेष स्फुरण हुआ है अशान्त जीवन में तृप्ति नहीं मिलती; वे अपनी अन्तरात्मा में यह वाणी सुनते हैं कि इसकी अपेक्षा भी महत्तर और समृद्धतर जीवन है, '*न इदम् यद् उपासते*'। किन्तु उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? भारत के संन्यासियों ने देखा है कि जागतिक जीवन का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। इसके ऊपर उठने के लिए जीवन को छोड़ने के सिवा दूसरी कोई गति नहीं। गीता ने भी इस पंथ को स्वीकार किया है, वैराग्य के द्वारा मनुष्य इस जीवन के दुःख-द्वन्द्व को अतिक्रम कर आत्मा की पूर्ण शान्ति में प्रतिष्ठित हो सकता है, वस्तुतः ऐसा करना ही होगा। किन्तु गीता यहीं पर ठहर नहीं जाती। इस अध्यात्म अवस्था को पाकर नीरव

शान्ति और मुक्ति तो मिलेगी किन्तु वह शक्त्यात्मक (dynamic) जीवन नहीं दे सकती, पूर्णतम सिद्धि नहीं प्राप्त करा सकती। यह एक उच्च गति है इसमें संदेह नहीं, किन्तु इतने ही से समस्त भगवत्-ज्ञान और आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। गीता ने दिखाया है कि नीचे की त्रिगुणात्मिका प्रकृति मनुष्य-जीवन का गूढ़तम सत्य नहीं है, उसने भगवान् की एक परम आध्यात्मिक प्रकृति का पता दिया है; मन, प्राण और देह में इस समय जो कुछ भी अपूर्ण रूप से देखा जाता है वह सब उच्चतर सत्य का मूल इसी प्रकृति में है और वह अभी प्रकट नहीं हुआ है। नीचे की मानसिक प्रकृति से इस परम अध्यात्म प्रकृति में उठ कर मनुष्य क्षुद्र जब अहंभाव से मुक्त होगा और अपने को एक अध्यात्म सत्ता जान लेगा तब उसकी चैतन्यमय दृष्टि हो जायगी और ऐसा समझ कर कि सभी भगवान् की इच्छा और भगवान् का कर्म है इन्द्रियाँ सब वस्तुओं को ग्रहण करेंगी। विश्व-चैतन्य की शक्ति का एक अंश रूप होकर मनुष्य जीवन यापना करेगा, परम भागवत आनंद से परिपूर्ण होगा और कर्म करेगा। उसका कर्म होगा दिव्य कर्म, उसका पद (Status) होगा उच्चतम अध्यात्म-पद।

# पातञ्जल दर्शन और गीता

गीता मुख्यतः योगशास्त्र है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में अध्याय-समाप्ति-प्रदर्शक जो संकल्प है उसमें कहा गया है कि, '*श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे*'। इस से यह समझ में आता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत योगशास्त्र है। गीता में ब्रह्मविद्या और दार्शनिक तत्त्व की आलोचना होते हुए केवल इसी विद्या के विश्लेषण और व्याख्या के लिए गीता की रचना नहीं हुई। इस विद्या के आलोक में किस प्रकार जीवन को गढ़ लिया जाय, संसार में रहते हुए कर्म करते हुए संसार में ही दिव्य भागवत जीवन कैसे प्राप्त किया जाय,—'*प्राक्शरीरविमोक्षणात्*' अर्थात् शरीर त्याग से पहले ही किस प्रकार अमृत का आस्वाद लेकर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के दुःख को कैसे अतिक्रम किया जाय— इसी बात की व्यावहारिक शिक्षा गीता में दी गई है। यही अपूर्व साधन-प्रणाली गीता का योग है। द्वितीय अध्याय के ३९वें श्लोक में और चतुर्थ अध्याय के प्रथम में भगवान् ने स्वयं अपने उपदेश को योग का नाम दिया है। गीता के उपसंहार में गीतोक्त उपदेश का नाम संजय ने 'योग' दिया है—

*व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्‌गुह्यमहं परम्।*
*योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ १८।७५॥*

स्वयं योगेश्वर कृष्ण ने जिस योग का उपदेश दिया है वह कौन सा योग है ? योगशास्त्र कहने से साधारणतः पतञ्जलि के योग-सूत्र ही समझ में आते हैं। यह योग राजयोग है। किन्तु ऐसा कहकर हम यह सिद्धान्त रखें कि पातञ्जल योगसूत्र में वर्णित राजयोग की व्याख्या या संकलन गीता ने किया है तो एक भूल होगी। गीता के अनेक आलोचकों ने पतञ्जलि के योग को गीता के योग से अलग न मानकर बहुत गड़बड़ी की है। गीता के अंग्रेजी अनुवादक टामसन साहब ने साफ कहा है कि गीता का कर्मयोग पातञ्जल योग का ही रूपान्तर है। किन्तु ध्यानपूर्वक पाठ करने से मालूम हो जायगा कि गीता का योग पातञ्जल सूत्र वर्णित राजयोग नहीं है। इस प्रबन्ध में गीता से पातञ्जल दर्शन का क्या सम्बन्ध है इसी की संक्षेप में आलोचना की जायगी।

सांख्य ने दार्शनिक तत्त्व-समूह का जो विश्लेषण दिया है उसी पर पातञ्जल योग की भित्ति है। अन्तर यह है कि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, पातञ्जल स्वीकार करता है। इसलिए पातञ्जल दर्शन का दूसरा नाम सेश्वर सांख्य है। पदार्थ-निर्णय में सांख्य और पातञ्जल दर्शन में कोई भेद नहीं है। सांख्य में जैसे पुरुष, प्रकृति और महत्तत्त्व आदि पचीस तत्त्व स्वीकार किए गए हैं पातञ्जल में भी वे मान्य हैं—इसीलिए पातञ्जल दर्शन का एक और भी नाम है सांख्य-प्रवचन। सांख्य

के पचीस तत्वों में पातञ्जल ने ईश्वर और जोड़ दिया है इसलिए उसके छब्बीस तत्त्व हो गए हैं। ईश्वर को स्वीकार करने पर भी पातञ्जल का सांख्य से कार्यतः कोई विशेष विरोध नहीं होता, क्योंकि पातञ्जल के योग में ईश्वर का स्थान बिलकुल गौण है। सांख्य और पातञ्जल दोनों का आरम्भ और लक्ष्य एक है। यह संसार दुःखमय है; दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार में लीला होती है और यह संसार-लीला ही दुःख का मूल है। पुरुष अज्ञान के वश अपने को प्रकृति के साथ एक मान लेता है, इसीसे प्रकृति को लीला का सुयोग मिलता है और पुरुष को सुख-दु.ख भोगना पड़ता है। संसार-लीला में पुरुष सुख का जो अनुभव करता है वह भी परिणाम में दुःख है; संसार में आगत-अनागत समस्त सुख-दुःख वास्तव में दुःखरूपी ही है अतएव हेय और परित्याज्य है। अविद्या या अज्ञान दूर होने पर पुरुष जब अपनी प्रकृत सत्ता को प्राप्त करता है तो प्रकृति से वह स्वतन्त्र हो जाता है और प्रकृति के खेल को भ्रमवश अपना खेल नहीं मानता, तभी प्रकृति की लीला बन्द हो जाती है पुरुष का दुःख भोग छूट जाता है और वह मुक्ति या कैवल्य प्राप्त करता है। यहाँ तक सांख्य और पातञ्जल में कोई भेद नहीं है। भेद हुआ है दोनों की साधन-प्रणाली को लेकर अर्थात् मुक्ति या कैवल्य प्राप्त करने के उपाय के विषय में पुरुष को जब ज्ञान होगा तभी

उसकी मुक्ति होगी-सांख्य की यह बात पातञ्जल ने स्वीकार की है,

*विवेकख्याति विप्लवा हानोपायः । (सा० २६ सूत्र)*

अर्थात् पुरुष और प्रकृति के भेद का जब अटूट ज्ञान पूर्ण भाव से प्राप्त होगा तभी मुक्ति होगी। अतएव ज्ञान ही हान और मुक्ति का उपाय है किन्तु यह विवेक-ख्याति, यह भेद-ज्ञान, किस प्रकार प्राप्त हो ? सांख्य का कहना है कि बुद्धि द्वारा विचार के फलस्वरूप यह विवेक प्राप्त होता है; पतञ्जलि का कहना है कि पहले यदि चित्त को शुद्ध शान्त न किया जाय तो ज्ञान का चरम उत्कर्ष हो नहीं सकता। पतञ्जलि ने जिस प्रणाली के द्वारा ज्ञान-लाभ के उपाय-स्वरूप चित्तशुद्धि का जो उपदेश दिया है वही पतञ्जलि का अष्टाङ्ग योग है,

*योगाङ्गानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।*

*(सा० २८ सूत्र)*

अर्थात् सकल योगाङ्ग के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान का उत्कर्ष होते होते परिणाम में विवेक-ख्याति होती है। विवेक-ख्याति ही ज्ञान की अन्तिम सीमा है।

पतञ्जलि का योग बुद्धि, तर्क, युक्ति और विचार से सिद्ध ज्ञानयोग नहीं है। प्रकृत ज्ञान या विवेक के लिए हमारे चित्त की चञ्चलता बाधा-स्वरूप है। जिस प्रकार जल की अस्थिर अवस्था में उस पर स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, स्थिर होने पर वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार चित्त जब स्थिर और प्रशान्त

होगा तब प्रकृत ज्ञान अपने आप ही प्रकाशित हो जायगा। इसी लिए चित्त की चंचलता दूर करना, चित्तवृत्ति का निरोध पातञ्जल दर्शन का मूल सूत्र है—'*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*'।

इससे यह मालूम हो जाता है कि पातञ्जल ने सांख्य की मूल बात को ग्रहण किया है, केवल उस में ईश्वर तत्त्व को बढ़ा दिया है, और विवेक-ख्याति के उपाय-स्वरूप केवल बुद्धि-विचार के ऊपर आश्रित न रह एक बँधी हुई—योग प्रणाली की शिक्षा दी है। सांख्य को लेकर पातञ्जल ने जो किया है गीता ने भी कुछ अंशों में वही बात की है। सांख्य के प्रकृति-पुरुष भेद और तत्त्व-विश्लेषण को लेकर गीता का आरम्भ होता है; किन्तु पातञ्जल की तरह गीता भी कहती है कि सांख्य का ज्ञान संन्यास पर आश्रित होने से अनेक कष्टों से सिद्ध होता है परन्तु योग की सहायता लेने से ब्रह्म की प्राप्ति सहज हो जाती है—

*संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।*
*योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥५।६॥*

सांख्य की साधना में कर्म और भक्ति को कोई स्थान नहीं है; पातञ्जल ने ईश्वर-भक्ति और ईश्वरार्थ कर्म को योग का सहायक कह कर उन्हें स्वीकार किया है। यहाँ भी पातञ्जल और गीता में हम सादृश्य पाते हैं।

किन्तु इस प्रकार पातञ्जल से गीता का कितने ही अंशों में मेल होने पर भी गीता पातञ्जल को पीछे छोड़ कर बहुत आगे

बढ़ गई है। प्रथमतः पतञ्जलि के योग में कर्म का बहुत नीचा स्थान है। जो ऊँचे योग के अभ्यास में समर्थ नहीं है उनके लिए प्राथमिक शिक्षा और साधनरूप से कर्म की उपयोगिता है, किन्तु जो लोग अष्टाङ्ग योग के द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध की साधना करते हैं उनके लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं है, कर्म उनके लिए बाधा-स्वरूप है। प्रथम अवस्था में कर्म के द्वारा जो योग-पथ में उठने की सहायता मिलती है वह भी सकल कर्म के द्वारा नहीं मिलती। कर्म तो सभी बन्धन के कारण हैं। धर्माधर्म, पाप-पुण्य सब कर्म के ही फल हैं और इस फल-योग को करते हुए जीव को पुनः पुनः संसार-बंधन में आना पड़ता है। अतएव अन्तपर्यन्त कर्म का बिलकुल त्याग करना होगा। फिर सांख्य में जैसे कर्म के लिए कोई स्थान नहीं है—कर्म-संन्यास ही सांख्य की प्राथमिक साधना है—उसको बदल कर पातञ्जल का कहना है कि निम्नाधिकारी के लिए क्रियायोग सहायक है। किन्तु सकल प्रकार का कर्म सहायक नहीं है,—तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये तीन ही क्रिया-योग हैं। इन कर्मों की साधना द्वारा अज्ञान, वासना, अहंकार क्रमशः क्षीण हो जाते हैं और समाधि में सहायता मिलती है।

*तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। (सा. १)*

*समाधिभावनार्थः क्लेश तनूकरणार्थश्च। (सा. २)*

जब साधना सिद्ध हो जाती है तब कर्म बंधन का कारण

तो नहीं होता किन्तु कर्म की तब कोई उपयोगिता और सार्थकता भी नहीं रहती। जीव जब कैवल्य प्राप्त कर लेता है तब न संसार रहता है, न कर्म। तब तो अचल, अक्षर, उदासीन पुरुष को नीरव पूर्ण शान्ति, शुद्ध निर्मल चैतन्य और अखण्ड प्रसन्नता प्राप्त होती है। अतएव अन्त तक सांख्य और पातञ्जल एक हैं। किन्तु गीता इन दोनों को छोड़कर आगे बढ़ गई है। गीता के मत से कर्म केवल प्राथमिक साधन नहीं है। कर्म शेषपर्यन्त योग का अंग है और सिद्धि के बाद भी संसार और कर्म पूर्ण रूप से चलते रहते हैं। गीता के मत से कर्म केवल तपस्या, स्वाध्याय, याग-यज्ञ, ईश्वरोपासना नहीं है। गीता के मत से संसार के सभी प्रयोजनीय कर्म, '*सर्व्वकर्म्माणि*' सर्वदा करते हुए योग को सार्थक किया जाता है—

*सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।*
*मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १८।५६॥*

सर्वदा सब प्रकार के कर्मों को करते हुए मत्परायण व्यक्ति मेरे प्रसाद से अनादि अव्यय पद प्राप्त करता है।

संसार में सभी प्रयोजनीय कर्मों को उत्साहपूर्वक करने की गीता की आज्ञा है, वह तामसिकता और जड़ता की तीव्र भाव से निन्दा करती है, '*क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ*'। किन्तु यह समझना भूल होगी कि गीता आधुनिक कर्मवाद (activism) के आदर्श का प्रचार करती है। प्राण और मन की नाना

वासना कामना का अनुसरण कर अस्थिर भाव से कर्म करना यह आधुनिक आदर्श है, इसके मूल में रजोगुण है और फल इसका दुःख है, 'रजसस्तु फल दुःखम्'। आधुनिक कर्मवाद ने जो दुःख और अशान्ति की सृष्टि की है उसी से गीता के सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित हो जाती है—

*उग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥१६।९॥*

कर्म का असली तत्त्व समझाने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।*
*मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२४।७॥*

"कर्म में तुम्हारा अधिकार है, किन्तु केवल कर्म में ही; फल में नहीं, कर्म-फल की आकांक्षा से कभी तुम्हारे कर्म की प्रेरणा न हो और कर्मत्याग में भी तुम्हारी कभी आसक्ति न हो।"

*किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥४।१६॥*

कर्म-तत्त्व के बारे में ज्ञानी व्यक्ति भी विभ्रान्त और विमूढ़ हो जाते हैं क्योंकि वे कर्म के मूल तत्त्व का पता नहीं लगाते, वे केवल सामाजिक और नैतिक आदर्श और विधिनिषेध के बाह्य तत्त्वानुसार कर्म का विचार करते हैं। अहिंसा, गुरुभक्ति, देशप्रेम, जीव के प्रति दया, जनसेवा आदि आदर्श का अनुसरण करना चाहते हैं। वस्तुतः इन सब के द्वारा कर्म की चरम मीमांसा नहीं हो सकती। अर्जुन शास्त्रज्ञ, हृदयवान्, न्यायपरायण, उन्नत-

चरित्र व्यक्ति था, तो भी वह कुरुक्षेत्र के भीषण संधिक्षण में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया था। युद्ध करना उसका स्व-धर्म है, क्षत्रिय-धर्म पालन करना उसके लिए श्रेय है, इस बात को अर्जुन अच्छी तरह जानता था और चिर काल से सन्तुष्ट चित्त होकर उसने इस धर्म का पालन किया था, किन्तु युद्ध में स्वजनों की हत्या कर, गुरुजनों को मार यह श्रेय कैसे प्राप्त होगा यह बात उसकी बुद्धि में न आ सकी–

*न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥१।३१॥*

आज भी हम देखते हैं कि जातीयतावाद अन्तरराष्ट्रीयतावाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, अराजकतावाद, फैसिज़्म आदि अनेक आदर्श मनुष्य के सामने रक्खे जाते हैं और प्रत्येक का दावा है कि उसी के द्वारा जगत् का हित-साधन होगा। यह सब देखकर विचारशील पुरुष के मन में यह चरम प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि सकल जीवन और सब कर्म मिथ्या तो नहीं हैं? श्रान्त, क्लान्त मानव-आत्मा के लिए अन्त में संन्यास, संसार-त्याग, कर्मत्याग, 'अकर्म' ही तो अन्तिम गति नहीं है? मेधावी पुरुष भी ऐसे भावों से भ्रान्त हो जाते हैं, श्रीकृष्ण का ऐसा कहना है। कारण कर्म-त्याग के द्वारा नहीं और न अकर्म के द्वारा बल्कि कर्म के द्वारा ही प्रकृत ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति होती है। कर्म क्या, उसका वास्तविक स्रोत क्या और उसकी प्रक्रिया क्या; कर्म की पूर्ण उपयोगिता क्या, उसकी सार्थकता

क्या, इन बातों को साधारण पुरुष नहीं समझ सकते। राजसिक प्रेरणा के वश वे कर्म करते हैं, कर्म को अपनी वासना और तृप्ति का उपाय समझते हैं, चाहे वह कामना क्षुद्र पारिवारिक सुख की हो अथवा देश या जगत् के कल्याण की हो या मानव-जाति की हो। परन्तु यह सब अज्ञान की क्रिया है। इस प्रकार अहंभाव और वासना के वश कर्म करने से मनुष्य सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, शुभ-अशुभ के द्वन्द्व में आजीवन बद्ध रहता है। वस्तुतः कर्म का उद्देश्य किसी बाह्यिक फल की प्राप्ति नहीं है; हम ऐसा सोचते हैं कि अपने कर्म के द्वारा अपने आत्मीय जनों का मंगल करेंगे, देश और जगत् का कल्याण करेंगे—किन्तु यह भूल है। कारण संसार में क्या होगा और क्या नहीं होगा हम अपनी क्षुद्र बुद्धि से निश्चय नहीं कर सकते और न अपने कर्म के द्वारा अपने इच्छानुसार जागतिक घटनाओं का परिवर्तन ही कर सकते हैं। अज्ञान और अहंकार के वश हम इस बात को स्वीकार नहीं करते किन्तु हमारा व्यक्तिगत जीवन और जगत् का इतिहास हम को सदा यह शिक्षा देता है। हम अच्छे से अच्छा उपदेश लेकर कर्म करें तो भी अनेक बार उसका उलटा ही फल निकलता है। कोई एक उच्चतर शक्ति मनुष्य के सकल प्रयास और सब कर्मों को अलक्ष्य रूप से नियन्त्रित कर अपने निगूढ़ उद्देश्य को सिद्ध करती रहती है, इस बात को हमारा व्यक्तिगत अज्ञान और आशा

ही स्वीकार न करें। जिस मुगल-सम्राट् ने अंग्रेज सौदागर
व्यापार करने की अनुमति दी थी, या जिन लोगों ने षड्यन्त्र
हतभाग्य सिराजुद्दौला को सिंहासनच्युत किया था उन्होंने
कल्पना की थी कि उनके कर्म का फल कहाँ तक ले
एगा ? अपनी प्राणरक्षा के लिए पलासी के मैदान से भाग
वह कैसी नृशंस मृत्यु के हाथ में पड़ा था ? यदि देश के
लड़ाई में प्राण देने का महत् संकल्प करता और फिर
में प्रवृत्त होता तो क्लाइव की मुट्ठी भर फौज विलुप्त हो
ती; और बङ्गाल का ही नहीं सारे भारत का इतिहास यहाँ
कि जगत् भर का इतिहास दूसरी ही तरह से लिखा जाता।
वान् को यह अभिप्रेत नहीं था। इसी से सिराज
विकट समय में वीर हृदय से युद्ध करने आया। फिर
उसके हृदय में सहसा दुर्बलता आ गई और वह लड़ाई न
ने पाया। १९१४ के योरपीय महायुद्ध में जर्मनी ने कल्पना
थी कि थोड़े ही दिनों में पेरिस पर अधिकार जमा सन्धि
शर्तें शत्रुओं पर लगायेगा। युद्ध-शक्ति का हिसाब करने में
र्मनी के नेताओं ने कोई भूल नहीं की थी, किन्तु विधाता
तो दूसरा ही विधान था। जर्मनी जैसी दुर्द्धर्ष सेना
र पेरिस की ओर बढ़ा था किसी की शक्ति नहीं थी कि
की गति को रोक सके। किन्तु न जाने क्या समझ
एक जर्मन सेनापति आप ही एक स्थान में रुक गया,

अंग्रेज और फ्रांसीसियों को दम लेने का समय मिला और साथ साथ युद्ध के परिणाम का निर्णय हो गया। इन सब बातों को देखकर भी जो लोग यह समझते हैं कि अपने कर्म द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि करेंगे क्या वे भ्रांति में नहीं पड़े हुए हैं? वस्तुतः मनुष्य के कर्म का लक्ष्य किसी बाह्यिक उद्देश्य की सिद्धि वा फल-प्राप्ति नहीं है, उसके कर्म का प्रकृत लक्ष्य तो अपनी प्रकृति का विकास और रूपान्तर करना है। व्यक्तिगत भाव से मनुष्य कुछ करे या न करे उससे बाह्य जगत् की घटना का व्यतिक्रम नहीं होता। अहिंसा-मंत्र का जप कर अर्जुन यदि युद्ध से विरत हो जाता तो भी भीष्म, द्रोण, कर्ण की रक्षा न होती, क्योंकि भगवान् तो उनको पहले ही मार चुके थे, अर्जुन निमित्त न बनता तो और किसी को यंत्र बनाकर भगवान् इस कर्म का सम्पादन करते—

*ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे*
*येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११।३२*

जो लोग इस कर्म-तत्त्व को समझते हैं वे अपने कर्म के द्वारा जगत् के परिवर्तन के लिए व्यग्र नहीं हो उठते। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, "तुम कौन हो जो इस जगत् का उपकार कर सकोगे? साधन के द्वारा उनका साक्षात्कार करो, उनको प्राप्त करो वे यदि शक्ति देंगे तो सबका हित-साधन कर सकोगे। नहीं तो नहीं।" इसी कारण से ज्ञानी पुरुष फल-कामना-

शून्य होकर भगवान् के उद्देश्य से यज्ञ-रूप से कर्म करते हैं जिससे उनका चित्त शुद्ध होता है और वे भागवत जीवन लाभ कर जगत् में भगवान् की इच्छा के विशुद्ध यंत्र बन जाते हैं। फल-कामना-शून्य कर्म करना होगा इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म का कोई लक्ष्य नहीं होगा, और जिस कर्म के द्वारा सफलता प्राप्त होगी उसके लिए उद्यम या प्रयास न किया जाय। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में जय-प्राप्ति करने के लिए कहा था, *युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान्*। सात्विक-कर्मी का लक्षण यह है कि वह *धृत्युत्साहसमन्वित*, अटल धैर्य और उत्साह से कार्य सम्पादन करता है। वह कर्म को सफल करना चाहता है, किन्तु अपने लिए नहीं, अपनी किसी स्वार्थसिद्धि के लिए या किसी मानसिक आदर्श को पूर्ण करने के लिए वह कर्म नहीं करता। वह तो यह देखता है कि मुझको क्या करना होगा, मेरा कार्य या कर्त्तव्य क्या है और उस कर्त्तव्य को मैं पूर्ण उत्साह और धैर्य से, सर्वाङ्ग सुन्दर भाव से सम्पन्न करूँ। हमारा कर्त्तव्य क्या है इसका निश्चय करने के लिए हमको अवश्य ही पहले अपने मन बुद्धि पर निर्भर होना पड़ता है और हम समाज के प्रचलित आदर्श और शास्त्र से इस कर्त्तव्य निर्धारण में सहायता पाते हैं। किन्तु इसके लिए यही श्रेष्ठ पंथ नहीं है। इस प्रकार अपनी ही बुद्धि के द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करने में किसी विकट समय पर

अर्जुन की तरह एक दिन हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायँगे। अपने अंतर में भगवान् की वाणी सुनकर ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करना होगा, जैसे अर्जुन ने अंत में कहा था, *करिष्ये वचनं तव*, "हे मेरे अन्तर्यामी भगवान्, मैं धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य कुछ भी विचार नहीं करूँगा, तुम्हीं मेरे हृदय में से जो मुझे करने को कहोगे वही मैं करूँगा।" किन्तु अपने अंतर में भगवान् की ठीक ठीक वाणी सुनने के पहले हमको अपने अन्तर को शुद्ध करना होगा, नहीं तो अपनी ही निगूढ़ वासना-कामना की प्रेरणा ही को हम भगवान् की वाणी समझने की भूल करेंगे। अन्तर को शुद्ध करने का उपाय यज्ञार्थ कर्म करना है, जो कुछ भी हम अपना कर्त्तव्य समझें उसे भगवान् की सेवा और उन्हीं के यज्ञ-रूप से भले प्रकार सम्पादन करें और उसका फलाफल चाहे जो हो विचलित न हों। कर्मयोग की यही प्रथम अवस्था है। इस भाव से कर्म करते करते हमारा चित्त ऐसा शुद्ध हो जायगा कि हमको यह अनुभव होगा कि हम कोई कर्म ही नहीं करते, हमारे देह-प्राण-मन के भीतर रह कर प्रकृति ही सब काम करती है और हम तो उसके यंत्र मात्र हैं। क्रमशः हमको यह अनुभव होगा कि यह प्रकृति भगवान् की ही शक्ति है और मूल सत्ता में हम भगवान् के साथ एक हैं और जगत् में हमारी प्रकृति भगवान् के आत्मप्रकाश का एक आधार और यंत्र है। तब

हममें कोई क्षुद्र अहंभाव नहीं रहेगा, हमारे भीतर की समस्त वासनाएँ निर्मूल हो जायँगी, हम सब समय भगवान् के सहित गूढ़ भाव से युक्त रहेंगे, और हमारी प्रकृति को, हमारे देह-प्राण-मन को निमित्त बना कर भागवत शक्ति भगवान् की इच्छा को जगत् में पूर्ण करेगी। इस प्रकार मुक्त पुरुष बाह्यतः दूसरे लोगों की तरह सकल कर्म करता है परन्तु उसका सकल कर्म होता है वृहत् और उसकी इच्छा शक्ति और आवेग प्रबल होता है, कारण उसकी प्रकृति के भीतर रह कर महती भगवती शक्ति कर्म करती है।

उदासीन रहकर कैसे ही भाव से कर्म करना ही होगा, किस कर्म के द्वारा, कौन से उपाय से कार्य सिद्ध होगा यह देखना न होगा या इसकी चिन्ता न होगी, यह गीता की शिक्षा नहीं है; किन्तु योगस्थ होकर शान्त और सर्वाङ्ग सुन्दर भाव से जैसे कर्म करना जितना सहज है वैसा आशा निराशा से कम्पित हृदय क्षुद्र अक्षम बुद्धि की नाना बाधाओं में मानवी इच्छा की अस्थिर व्याकुलता में नहीं हो सकता। इसीलिए गीता कहती है, योगः कर्म्मसु कौशलम्, योग ही कर्म का प्रकृत कौशल है। किंतु यह सब व्यष्टिगत प्रकृति के भीतर रह कर एक महान् विश्वगत ज्योति और शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है। कर्म-योगी यह जानता है कि मन में चाहे जो हो समस्त जय-पराजय लाभ-हानि सकल कर्म फल के नियन्ता सर्वज्ञ भगवान्

की इच्छा से ही सिद्ध होते हैं, भगवान कभी बाह्य जय के द्वारा अपनी इच्छा सम्पादन करते हैं, और कभी बाह्य पराजय के द्वारा अधिकतर जोर देकर अपनी इच्छा पूरी करते हैं। अर्जुन को जो युद्ध करने का आदेश दिया गया उसमें जीत निश्चय थी; किंतु यदि हार ही निश्चित होती तो भी उसे युद्ध तो करना ही पड़ता, क्योंकि जिस विराट् आयोजन के द्वारा भगवान की इच्छा निश्चित भाव से पूरी होने वाली थी उसके लिए युद्ध करने का भार अर्जुन पर रक्खा गया था।

पातञ्जल योग में कर्म का स्थान जैसे गौण है भक्ति का स्थान भी उसी प्रकार गौण है। सांख्य में ईश्वर भक्ति का स्थान है ही नहीं क्योंकि सांख्य मत से ईश्वर नहीं—*ईश्वरासिद्धेः प्रमाणाभावात्*। पातञ्जल ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण देता है और ईश्वर प्रणिधान को योग का सहायक बता स्वीकार करता है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है भक्ति सहित ईश्वर का अनुस्मरण, ईश्वर का नाम-गुण-कीर्तन, ईश्वर के लिए यज्ञ यागादि करना इत्यादि। इस बात में गीता और पातञ्जल में सादृश्य है सही किन्तु वह अधिक गहरा नहीं है। पातञ्जल के मत से ईश्वर भक्ति का कोई विशेष स्थान नहीं है। पातञ्जल ने ईश्वर-प्रणिधान को क्रिया योग में शामिल कर रक्खा है, यह बात हम पहिले ही देख चुके हैं। यहां ईश्वर की भक्ति आरम्भ में सहायक मात्र है; किंतु भक्ति को यहां तक कि ईश्वर को छोड़ देने से

योग में कोई क्षति नहीं होती। प्रकृत योग के लिए तैयारी करने में अनेक उपायों की आवश्यकता होती है, पतञ्जलि के मत से ईश्वर-प्रणिधान उनमें से एक उपाय मात्र है,—'*ईश्वर प्रणिधा-नाद्वा*'! यम, नियम, आसन आदि तपस्या के द्वारा चित्त वृत्ति का निरोध करना ही प्रकृत योग है। जो लोग इस प्रकार तपस्या में व्रती हो सकें उनके लिए और किसी प्रकार किसी वस्तु का प्रयोजन नहीं है। किन्तु गीता में ईश्वर ही सब कुछ है, ईश्वर को छोड़ कर गीता में दूसरी कोई साधना ही नहीं है और योग का अर्थ है कि किसी न किसी उपाय द्वारा ईश्वर के साथ योग करना और यह योग है सकल ज्ञान, सकल तपस्या और सकल कर्म के ऊपर। और योगियों में भी वे ही श्रेष्ठ योगी हैं जो परम श्रद्धा के साथ ईश्वर का भजन करते हैं और उसकी भक्ति करते हैं—

*तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।*
*कर्मिभ्याश्चधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥*
*योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।*
*श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥६।४६।४७॥*

अब तक जो बात कही गई है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि गीता जिसे योग कहती है उसे पतञ्जलि वर्णित अष्टाङ्ग राजयोग नहीं समझना चाहिए। उस काल में प्रचलित साधना के स्थूलतः दो भाग कर श्री कृष्ण ने कहा है—

*लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।*
*ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ॥३।३॥*

पुराकाल में साधना के दो पथ प्रचलित थे, एक ज्ञान का दूसरा कर्म का। ज्ञान का पथ सांख्यवादियों का था और कर्म का योगियों का था। यह स्पष्ट बात समझ में आती है कि गीता योग को प्रचलित अर्थ के अनुसार उसे कर्म योग समझती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि पतञ्जलि के योग सूत्र में यदि कर्म योग की मूल बात हो भी तो भी वह कर्म योग नहीं है। कुछ विशेष प्रक्रियाओं द्वारा चित्त वृत्ति का विरोध करना पतञ्जलि का योग है और यही प्रणाली राजयोग के नाम से प्रख्यात है। गीता ने कहीं भी योग का ऐसा संकीर्ण अर्थ नहीं किया है। गीता प्रचलित कर्म योग को ही योग नाम से ग्रहण करती है; और कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति का समन्वय कर अपनी पूर्ण योग की शिक्षा देती है।

उस समय साधना के दो मार्ग प्रचलित थे, एक ज्ञान का पथ था जिसमें कर्म को अन्तराय बताया गया था। अतएव यही संन्यास का पथ था। और दूसरा पथ था कर्म का। इसके मतानुसार कर्म कभी साधना में अन्तराय नहीं है। कर्म के द्वारा ही चरम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है,—'*कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः*, और सिद्धि के बाद भी कर्म चलता रहता है। जनकादिक द्वारा आचरित कर्मयोग ही योग शब्द

से परिचित था; और गीता ने भी इसी महान् कर्मयोग के आदर्श को ही ग्रहण किया है। किंतु गीता ने दिखाया है कि इस कर्म योग के साथ सांख्य ज्ञान का कोई विरोध नहीं है—

*सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।*
*एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥*
*यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।*
*एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति* ॥५।४।५॥

सांख्यवादी चाहते हैं कर्म सन्यास और गीता का कहना है कि कर्म योग का ठीक आचरण होने से ये दोनों ही उसमें आ जाते हैं। जीवन में जो कुछ कर्म करते हैं वे हमारे नहीं— प्रकृति के हैं; हम कुछ नहीं करते; हमारे इतर और बाहर जो कुछ भी कर्म चलता रहता है, हमारे चित्त और इन्द्रियों की सकल चेष्टा और प्रवृत्ति यह सब प्रकृति की क्रिया हैं पुरुष की नहीं, आत्मा की नहीं,— इस भाव को अपने अन्तर रखकर सब कर्म करना कर्म योग है। यही प्रकृत ज्ञान है और सकल कर्म को छोड़ कर आंखें मूद कर बैठने को जो लोग कर्म का अन्त समझते हैं वे अज्ञानी हैं, कर्म कभी बन्द हो नहीं सकता '*न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्*'। जो कर्म में अकर्म देखते हैं और अकर्म में कर्म देखते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी हैं। कर्म परित्याग करने का कोई प्रयोजन ही नहीं और यह सम्भव भी नहीं; हम कुछ नहीं करते, प्रकृति ही सब कुछ

करती है—इस प्रकार का भाव प्रकृत कर्म संन्यास है; क्योंकि ऐसी अवस्था में यह भ्रम नहीं होता कि कर्म आत्मा का है। कर्म प्रकृति के ऊपर ही छोड़ दिया जाता है। यही सच्चा संन्यास है और यही प्रकृत नैष्कर्म्य। कर्म समुदाय को प्रकृति को जान कर आत्मा जब अहंकार और वासना से मुक्त हो जाता है तब सकल कर्म और चेष्टा करते हुए भी संन्यास, नैष्कर्म्य हो जाता है। इस प्रकार जहां आत्म-ज्ञान नहीं वहां सच्चा संन्यास भी असम्भव है; केवल बाह्य कर्म न करने से नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता। बाह्य कर्म का त्याग प्रकृत संन्यास नहीं है। भीतर का त्याग ही संन्यास है। जिस को सांख्य दत्त प्रकृति पुरुष का भेद-ज्ञान नहीं उस के लिए निष्काम कर्म योग असम्भव है। और भ्रम के वश बाह्य कर्म को छोड़ कर यदि कोई सन्यासी हो जाय तो उस को प्रकृत ज्ञान की प्राप्ति न होगी। पुरुष निष्क्रिय है, प्रकृत ही सब कुछ करती है, इस भाव से निष्काम निरहंकार होकर संसार में प्रयोजनीय सभी कर्म करना यही सच्चा संन्यास और प्रकृत योग है—

*अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोति यः।*
*ससंन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥५।१॥*

इस प्रकार गीता ने सांख्य के ज्ञान और योग कर्म का समन्वय किया है। सांख्य का ज्ञान न होने से कर्म योग सम्भव नहीं; और सांख्य ज्ञान प्राप्त करने पर कर्म करने में कोई बाधा नहीं,

क्योंकि वह कर्म न करने के समान है, नैष्कर्म्य है। गीता कर्म योग की प्रतिष्ठा करना चाहती है; और पहले ही से योग का अर्थ कर्म योग लेती है, किन्तु साथ साथ सांख्य के तत्त्व विश्लेषण को भी ग्रहण करती है और पहले ही यह बात स्पष्ट कर देती है कि कर्म योग का सांख्य से कोई विरोध नहीं है—"*एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।*" किन्तु इस समन्वय से एक प्रश्न का समाधान नहीं होता। जिस व्यक्ति ने सांख्य ज्ञान प्राप्त किया है उस के लिए कर्म बंधन का कारण नहीं, कर्म हो या न हो इस से कुछ वास्ता नहीं—

*नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।*

*न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३।१८॥*

इससे यह बात तो समझ में आई कि कर्म करने में कोई दोष नहीं परन्तु यह नहीं कहा गया कि कर्म करना ही होगा। तो फिर यह कैसे कहा गया। "*तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार*"? कर्म करने में यह भी आशंका होती है कि फिर ज्ञान और प्रकृत संन्यास से कहीं गिर न जांय। अतएव कर्म जितना शीघ्र बन्द हो जाय उतना ही अच्छा; और जब तक कर्म बिलकुल बंद न हो जाय तब तक जितना कर्म किए बिना काम न चले उतना ही करना युक्तियुक्त है। अगर ऐसी ही बात है तो भगवान् ने अर्जुन को कर्म त्याग का निषेध क्यों किया? इतना ही नहीं ऐसा कर्म करने के लिए कहा जिस से

बढ़कर हिंसा परायण कर्म दूसरा नहीं हो सकता। इस का क्या तात्पर्य है ? *"तत्किं कर्मणि घोरेमां नियोजयसि केशव"*।

इसी प्रश्न का समाधान गीता-शिक्षा का श्रेष्ठ रहस्य है और इसी समाधान के द्वारा गीता ने कर्मयोग के चरम उत्कर्ष का साधन किया है। ज्ञान के साथ कर्म करने से वह बंधन का कारण नहीं होता इस बात को पातञ्जल ने स्वीकार किया है और यही कर्मयोग की भित्ति है। पातञ्जल सूत्र है, *"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्म वेदनीयः"* (सा १२) अर्थात् अज्ञान, अहंकार और आसक्ति के साथ जो कर्म किया जाता है वही इस जन्म और पर जन्म में फलीभूत होता है। अतएव पातञ्जल मत से भी ज्ञानी जनों को कर्म करने में कोई हानि नहीं। तथापि पातञ्जल ने कर्म का कोई प्रयोजन नहीं समझा और गीता की तरह कर्म का उपदेश नहीं दिया, और सांख्य की तरह संन्यास और कर्म त्याग को ही जीवन का श्रेष्ठ आदर्श ग्रहण किया है। सांख्य और पातञ्जल का लक्ष्य है प्रकृति को अतिक्रम करना, चिद्गुण के अतीत होना, विवेक-ख्याति द्वारा परवैराग्य को प्राप्त कर पुरुष की नित्य सनातन अचल अक्षर, निष्क्रिय शान्त प्रतिष्ठा को प्राप्त करना। इसलिए अंत तक सांख्य और पातञ्जल में कर्म का स्थान नहीं है और न प्राकृतिक लीला का है। गीता भी त्रिगुणमय अपरा प्रकृति को अतिक्रम करना चाहती है और इसके लिए

अभ्यास और वैराग्य का उपदेश दिया है, किन्तु गीता एक और प्रकृति का भगवान् की परा प्रकृति का पता देती है, और नीचे की प्रकृति को छुड़ा कर इस दिव्य प्रकृति की लीला में खिलना चाहती है—यही दिव्य जीवन है, "*मद्भावमागताः, मम साधर्म्यमागताः*"। अज्ञान प्रकृति के खेल को छोड़ कर भगवान् के सहित युक्त हो भागवत् भाव और भागवत् प्रकृति के बीच दिव्य जीवन लीला का विकाश करना होगा—यही गीता का चरम लक्ष्य है। सांख्य और पातञ्जल को इस दिव्य संसार लीला का, इस भागवत् जीवन का, पता नहीं चला। उन्होंने केवल इतना ही देखा है कि नीचे की प्रकृति के अधीन दुःख और अशान्तिमय संसार है और इस के ऊपर अनंत, अक्षर, पूर्णशान्तिमय पुरुष या आत्मा की सचेतन प्रतिष्ठा है। इसी लिए संसार छोड़ कर इस अक्षर प्रतिष्ठा को प्राप्त करने को उन्होंने परम पुरुशार्थ बताया है। गीता भी इस अक्षर की शान्त प्रतिष्ठा चाहती है, किन्तु गीता यहीं पर नहीं रुक जाती अक्षर ही सब कुछ या श्रेष्ठ सत्ता नहीं है अचल अटल शान्ति और नीरवता भगवान् का एक पहलू मात्र है इस के अतिरिक्त एक और भी पहलू है वह क्षर और विश्वलीला का है। साधारण जीव में जो क्षर का खेल होता है वह अज्ञान का है, जन्म-मृत्यु जरा दुःख का खेल है। किंतु भगवान् की जो विश्वलीला है उस में दुःख नहीं वह अखण्ड आनन्द की लीला,

सच्चिदानन्द का खेल है। भगवान् का इस लीला में साथी होना जीव की परम गति है। भगवान् के भीतर है अक्षर की शान्ति और बाहर है क्षर की लीला। क्षर और अक्षर दोनों ही एक काल में भगवान् में स्थान पाते हैं और वे उन दोनों से ऊपर हैं, अतएव उनको पुरुषोत्तम कहा जाता है—

*यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।*

*स सर्वविद्भजति मां सर्व भावेन भारत ॥१५।१९ ॥*

मोह से मुक्त हो कर जो व्यक्ति इस पुरुषोत्तम तत्व को समझ सके वह सर्वविद् है, उसको और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। इस भाव से सर्वज्ञता प्राप्त कर वह सर्वतो भाव से पुरुषोत्तम की भक्ति करता है, उनका भजन करता है। सकल कर्म का परिणाम ज्ञान में और सकल ज्ञान की परिणति भक्ति में है; ज्ञान और कर्म के ऊपर प्रतिष्ठित भक्ति है वही गीता की श्रेष्ठ शिक्षा है। ज्ञान कर्म और भक्ति द्वारा पुरुषोत्तम से युक्त होना गीता का योग है। जीव जब पूर्ण आत्म समर्पण द्वारा पुरुषोत्तम से युक्त होता है तब उसके भीतर अक्षर की अचल अटल शान्ति प्रतिष्ठित हो जाती है-यही त्याग या संन्यास है। और बाहर की ओर वह ज्ञान सहित भगवान् की विश्वलीला का यंत्र हो जाता है, साथी बन जाता है, यही दिव्य भोग या संसार लीला है। ज्ञान के द्वारा पुरुषोत्तम तत्व समझना होगा, ईश्वर के लिए कर्म द्वारा प्रकृति को क्रमशः शुद्ध और बुद्ध करना होगा।

ज्ञान की वृद्धि के साथ कर्म को क्रमशः निष्काम समत्व सम्पन्न करना होगा, निष्काम कर्म के द्वारा ज्ञान क्रमशः पुष्ट और वृद्धि प्राप्त करेगा। ज्ञान और कर्म के द्वारा पुष्ट होकर भक्ति क्रमशः पूर्णाङ्ग होगी, ईश्वर को आत्म समर्पण सम्पूर्ण होगा—तब जीव भगवान् का साधर्म्य प्राप्त करेगा, और भगवान् में निवास कर भगवान् की विश्वलीला का आनन्द लेगा। तब भी कर्म चलता रहेगा क्योंकि भगवान् कभी कर्म बन्द नहीं करते,—*वर्त्त एव च कर्मणि*। अतएव जो भगवान् के भक्त या सखा हैं उनके कर्म का भी कभी अंत नहीं होता, परन्तु वह कर्म स्वार्थ वश या अहंकार वश न होगा। हृदिस्थित ईश्वर के द्वारा सज्ञान परिचालित हो संसार में, त्तर के बीच सर्वभूतों में जो भगवान् हैं उनके लिए भक्ति और प्रेम के वश से कर्म का आचरण होगा।

भक्तियोग ही गीता की परम शिक्षा है। भगवान् के चरणों में सम्पूर्ण भाव से आत्मसमर्पण करने पर उनकी कृपा द्वारा सकल योग और साधनाओं का फल मिलता है, और इन सब के ऊपर जो भगवान हैं उनकी भी प्राप्ति होती है और फिर भगवान् के बीच ही निवास होता है। गीता शिक्षा का यही सारांश अठारहवें अध्याय में कहा गया है—

*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।*
*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८।६५॥*

"हे अर्जुन, तुम मेरे प्रिय हो, मै तुम से प्रतिज्ञा कर कहता

हूँ कि तुम मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, अपनी सभी चेष्टाएं मेरे लिए हों, मेरी पूजा करो, तुम निश्चय ही मुझको पाओगे। भगवान् ने जिस पूर्ण समर्पण को ही गुह्यतम शिक्षा बताई है वह केवल कहने मात्र से नहीं हो जाती। हमारा चित्त, चंचल मन, प्राण सदा वासना से विक्षुब्ध हो इन्द्रियों के पीछे दौड़ा करते हैं—तब हम ईश्वर के प्रति कैसे आत्म समर्पण कर सकते हैं? अपनी सकल चिन्ता, भाव और चेष्टाओं को कैसे ईश्वर मुखी किया जाय? सब विघ्न बाधा को काट कर आत्म समर्पण पूर्ण करने के लिए गीता ने उपाय स्वरूप कर्मयोग की शिक्षा दी है और ज्ञान को कर्म योग का ही एक प्रधान अंग बताया है। ज्ञान युक्त निष्काम कर्म के द्वारा चित्त क्रमशः शुद्ध और शान्त होता है; तब इस शान्त शुद्ध हृदय में विमल भक्ति और प्रेम खिल उठते हैं। किंतु हमारा मन बड़ा ही चंचल है और इन्द्रियां बड़ी ही प्रबल हैं—इनके शान्त करने की जितनी भी चेष्टा की जाय उतना ही यह कार्य असम्भव मालूम होता है। सभी एक भाव से इन्द्रियों को शान्त और संयत कर सकें ऐसी बात नहीं है। इसीलिए गीता ज्ञान और कर्म का साधारण उपदेश देती है और उसके अतिरिक्त राजयोगकी साधन प्रणाली का भी उपदेश देती है। यही गीता का महत्व है। गीता किसी साधना या पन्थ की अवहेलना नहीं करती। सभी साधनाओं में कुछ न कुछ सत्य निहित है और ठीक भाव से ग्रहण करने

से सभी साधनों से सहायता प्राप्त की जा सकती है। चित्त स्थिर करने के लिए अन्यतम उपाय स्वरूप गीता ने जिस साधन प्रणाली की शिक्षा पंचम और षष्ठ अध्याय में दी है वह पातञ्जल वर्णित राजयोग के अनुरूप है। पंचम अध्याय के अंत में कहा गया है—

*स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यां श्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।*
*प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥*
*यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।*
*विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥५।२७,२८*

यहां जिस साधन प्रणाली का उपदेश हम देखते हैं वह स्थूल दृष्टि से न तो कर्म योग है न तर्क विचार युक्त ज्ञान योग है। यहां तो हम पातञ्जल वर्णित राजयोग का लक्षण पाते हैं। मन की समस्त क्रियायों को जय करना होगा, यही पातञ्जल का चित्त वृत्ति निरोध है। श्वास प्रश्वास का नियमन करना होगा यही प्राणायाम है। इन्द्रियों की दृष्टि को भीतर की ओर लाना होगा, यही प्रत्याहार है, इन सब प्रक्रियाओं द्वारा चित्त का लय होगा, समाधि प्राप्त होगी और मोक्ष मिलेगा। तो क्या इस प्रकार आंख मूंद नाक दबा कर जो समाधि और मुक्ति प्राप्ति होती है गीता की चरम शिक्षा वही है? यदि ऐसा ही हो तो पातञ्जल और गीता में कोई भेद नहीं ऐसा कहना होगा और यह मानना होगा कि शेष पर्यन्त लय, चित का कर्म त्याग और

संसार निवृत्ति रूप वृत्ति ही गीता का लक्ष्य है। इस भूल की सम्भावना से बचने के लिए गीता अगले श्लोक में कहती है–

*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।*

*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥५।२९॥*

भगवान् सकल यज्ञ कर्म के भोक्ता, सर्व भूतों के सुहृद, सकल जगत् के महान् ईश्वर हैं–इनको जानकर ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। यहां फिर ईश्वर की भक्ति और कर्मयोग की बात आगई और इस अध्याय का अन्तिम वचन भी यही है। अतएव यह स्पष्ट समझ में आता है कि गीता ने राजयोग को चरम शिक्षा नहीं माना; बहिर्मुखी मन को शान्त और संयत करने के लिए विशेष शक्तिशाली प्रणाली बता कर उसका उपदेश दिया है। मन को इस प्रकार मोड़ कर, एकाग्र कर ईश्वर मुखी करना होगा और ईश्वर को सर्व भूतों का सुहृद जान सब भूतों का हित साधन करना होगा, ईश्वर को समस्त यज्ञों का भोक्ता जान यज्ञ कर्मादि कर्म करने होंगे–यही गीता की शिक्षा है और यही ज्ञान और भक्ति युक्त कर्म योग है।

पंचम अध्याय के ऊपर दिए हुए दो श्लोकों में गीता ने जो राजयोग का उपदेश दिया है समस्त छठे अध्याय में उसी का विषद वर्णन है। इससे यह समझ में आ जाता है कि इस राजयोग प्रणाली को गीता कितनी शक्ति शाली मानती है। किंतु छठे अध्याय के अन्तिम श्लोकों में स्पष्ट कहा गया है कि

सकल साधना और सकल योग के ऊपर है भक्तियोग और यही गीता की अपनी निजी शिक्षा है—

*योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।*
*श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥६।४॥*

# वेदान्त दर्शन और गीता

उपनिषद् को भित्ति बनाकर जिन षड्दर्शनों की भारत में उत्पत्ति हुई है उनमें प्रधान वेदान्त दर्शन है। वेदान्त या उपनिषद् का सार संग्रह कर महामुनि बादरायण व्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में जीव, जगत् और ब्रह्म सम्बन्ध में दार्शनिक वर्णन किया है। वेदान्त कहने से मूलतः उपनिषद् को समझा जाता है। गीता ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में विस्तृत ज्ञान के लिए निर्देश किया है,-

*ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।*
*ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३।४॥*

इस श्लोक के प्रथम पाद में वेद और उपनिषद् की ओर इशारा किया गया है। द्वितीय पाद में ब्रह्मसूत्र की ओर जिसमें *हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः*, अर्थात् न्याय संगत युक्ति तर्क की सहायता से जगत् तत्त्व की आलोचना की गई है; यही दर्शनों की संज्ञा है अतएव ब्रह्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।*

गीता के उल्लिखित श्लोक से ऐसा जान पड़ता है कि दार्शनिक तत्त्व विषय में उस समय ब्रह्मसूत्र प्रमाण माना जाता

---

* ब्रह्मसूत्र में उरुलोमी, काशकृत्स्न, जैमिनि, कार्षाजिनी, आत्रेय आदि मुनिगणों के नाम जिस प्रकार से आए हैं ऐसे ही और भी वेदान्त दर्शन के रचयिता थे। किन्तु उनके ग्रन्थों का कुछ भी पता नहीं चलता।

था। किंतु महामुनि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में किस अर्थ की ओर लक्ष्य रक्खा है, अथवा किन सिद्धान्तों का अवलम्बन कर ब्रह्मसूत्र की रचना की है, इस बात को लेकर बहुत मतभेद हो गया है। वेदान्त दर्शन में पांच सौ से कुछ अधिक सूत्र हैं। ग्रन्थकार ने बहु विचार का सार संग्रह कर एक एक सूत्र की रचना की है। ये सब सूत्र इतने संक्षिप्त और अर्थबहुल हैं कि बिना भाष्य टीका आदि के अर्थ निर्णय करना सहज बात नहीं है। सूत्र रचना का उद्देश्य यह था कि बहु विषय सहज में स्मृति पर अंकित हो, और वह याद रक्खा जाय। इन सूत्रों का अवलम्बन कर आचार्यगण निर्दिष्ट विषय की आलोचना करेंगे, गुरु परम्परा से शास्त्र का व्याख्यान होगा, यही सूत्र रचना की सार्थकता थी। किन्तु कालक्रम से एक ही ब्रह्मसूत्र का अवलम्वन कर नाना व्याख्या और नाना सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए, और उनमें इतना अधिक मतभेद है कि ब्रह्मसूत्र का प्रकृत अर्थ सम्पूर्ण रूप से इतने दिन बाद निकाल लेना अब सम्भव नहीं जान पड़ता। किन्तु वेदान्त सूत्र हमारे दर्शन का प्रमाण्य ग्रन्थ है; और इसका समग्र अर्थ न समझ सकने पर भी इसके मूल लक्ष्य और उपदेश का सार तत्त्व जिस प्रकार ठीक भाव से समझ में आ सके ऐसी चेष्टा आवश्यक है।

आचार्य शङ्कर ने असाधारण शक्ति और प्रतिभा से ब्रह्मसूत्र का जो विस्तृत और प्राञ्जल भाष्य रचा है, उसको यदि

हम निर्विचार रूप से ग्रहण कर सकते तो फिर कोई झगड़े की बात नहीं थी। एक समय भारत में शङ्कराचार्य जी का प्रभाव बहुत ही अधिक था, शिव का अवतार कह कर वे पूजित हुए; उनके मायावाद के प्रचार से भारत के इतिहास की गति ही बदल गई है, ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बौद्ध धर्म के प्रबल आक्रमण से वैदिक धर्म की रक्षा कर शङ्कराचार्य ने ही भारत में उसकी प्रतिष्ठा की थी। इसीलिए हिन्दू के मन में शङ्कर का स्थान आज भी इतना ऊँचा है। आज भी वेदान्त दर्शन कहने से बहुत लोग शंकर का मत ही समझते हैं। किन्तु बौद्ध मत का खण्डन करते हुए भी शङ्कर स्वयं सम्पूर्ण भाव से उसके प्रभाव को अतिक्रम न कर सके; उन्होंने ब्रह्म और माया सम्बन्धी मत का प्रचार किया है उसमें बौद्ध मत का प्रभाव यथेष्ट दिखाई देता है।* बौद्धगण से ही

* ज्ञानयोग से गीता का मतलब सांख्य का ही है, ज्ञानयोगेनसाख्यानां। "परवर्ती काल मे बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ साथ साख्य की ज्ञान प्रणाली का प्रभाव निश्चय ही कम हो गया। साख्य की तरह निरीश्वरवादी और अद्वैतविरोधी बौद्ध मत ने विश्वशक्ति की कार्यावली और अनित्यता पर ज़ोर दिया था। बौद्ध मत मे इस विश्व शक्ति को प्रकृति न कह कर 'कर्म' कहा गया है, क्योंकि बौद्धों ने वेदान्त के ब्रह्म या सांख्य के निष्क्रिय पुरुष को स्वीकार नही किया है। उनके मत से बुद्धि विचार के द्वारा विश्व शक्ति की इस अनित्यता को प्राप्त करना मुक्ति लाभ का पथ है। जब बौद्ध मत के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरभ हुई तब इस पुरातन

शङ्कर ने अपने मठ स्थापन की कल्पना ली और आजीवन सन्यास का आदर्श ग्रहण किया था। कोई कोई तो यहां तक कहते थे कि शङ्कर प्रच्छन्न बौद्ध हैं। निम्बार्क, श्रीकण्ठ, रामानुज, विज्ञानभिक्षु, श्रीकर, वल्लभ, बलदेव प्रभृति आचार्यगणों ने ब्रह्मसूत्र की जो विभिन्न व्याख्याएँ की हैं उसके अधिकांश से शङ्कर की व्याख्या का मूलगत भेद है। अपने अनुभव के अनु-सार वेदान्त शास्त्र की व्याख्या द्वारा शङ्कर ने जिस कर्मत्याग, संसार त्याग और संन्यास के आदर्श का प्रचार किया था वह आदर्श वर्तमान युग के मनुष्य को अब आकृष्ट नहीं कर सकता। वेद में आध्यात्मिकता के साथ जीवन का, त्याग के साथ भोग का, शान्ति और नीरवता के साथ कर्म का जो समन्वय मूलक आदर्श प्रचारित हुआ था वर्तमान भारत का श्रेष्ठ विचार और अध्यात्म साधन की गति उस ओर फिर से अग्रसर हुई है।

ब्रह्मसूत्र की रचना के पीछे जो अध्यात्म की उपलब्धि और अन्तर्दृष्टि थी वैसी ही कुछ अंश में न होने पर लोगों को ब्रह्म

---

सांख्य मत की पुनः प्रतिष्ठा न होकर शंकर द्वारा प्रचारित वेदान्त मत की ही प्रतिष्ठा हुई। बौद्धमत की अनित्यता के स्थान मे शङ्कर ने तदनुरूप वैदान्तिक मायावाद का प्रचार किया और बौद्ध मत के असत्य, अनिर्देश्य निर्वाण और शून्य के स्थान में तदनुरूप अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय ब्रह्म की प्रतिष्ठा की जिसके बीच सकल लक्षण सकल कर्म और सकल बुद्धि लुप्त हो गई, कारण ये सब उसमें वस्तुतः कभी थी ही नहीं, ये सब केवल मनकी भ्रान्ति मात्र हैं।" श्रीअरविन्द की गीता

सूत्र का अर्थ समझना केवल सूक्ष्म पाण्डित्य द्वारा सम्भव न होगा। इस विषय में गीता ही हमारी सहायक है। अध्यात्म जीवन गठन के लिए जो सकल दार्शनिक तत्व सहायक हो सकते हैं ब्रह्म सूत्र में वे सब मिलते हैं, गीता ने उनको अपनी शिक्षा में मिला कर सार रूप से उनका उद्धार किया है। गीता अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रंथ है और सूत्र रूप से उसकी रचना नहीं हुई है इस लिए उसका अर्थ समझना भी उतना कठिन नहीं; अतएव वर्तमान में गीता के सहारे हमको ब्रह्मसूत्र का अर्थ समझना होगा। वस्तुतः शङ्कर आदि सभी भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करके गीता को प्रमाण माना है। इसके अतिरिक्त गीता आप ही वेदान्त का प्रमाण ग्रंथ है। बौद्ध युग के अवसान पर जब हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ तब उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता तीनों वेदान्त संबन्धी प्रमाण ग्रंथ सर्व सम्मति से माने गए और इस लिए इन तीनों ग्रन्थों का नाम प्रस्थानत्रयी हुआ। गीता शिक्षा द्वारा ब्रह्मसूत्र के मूल सिद्धान्त को कैसे समझा जाय, इसी बात की यहां हम संक्षिप्त रूप से आलोचना करते हैं।

## ब्रह्म

बादरायण-रचित ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है—

*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।*

जो चरम सत्य से, Ultimate Reality, उपनिषद ने

उसको ब्रह्म का नाम दिया है ब्रह्म ही परम वस्तु है इसके ऊपर और कुछ नहीं। वेदान्त का कहना है कि यह परम सत्य एक वस्तु हैं दो नहीं, *एकमेवाद्वितीयम्*। विष्णु, शिव ब्रह्मा आदि सकल देवता ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं ब्रह्म के अन्तर्गत हैं। उपनिषद् में ब्रह्म को कहीं ईश्वर, कहीं पुरुष, कहीं देव कहा गया है, किंतु वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लिए इन सब शब्दों का व्यवहार नहीं किया गया। सांख्य पुरुष शब्द का व्यवहार करता है और योग ईश्वर का; वेदान्त दर्शन ने सांख्य और योग मत का खण्डन कर जैसे अपने मत को प्रतिष्ठित किया है उसी तरह पुरुष और ईश्वर शब्दों को भी ब्रह्मवाचक शब्द रूप से ग्रहण नहीं किया। आचार्य शङ्कर ने दिखाया है कि न्यायसंगत ब्रह्मवाद में पुरुष, ईश्वर या देव का स्थान ब्रह्म के नीचे है। किंतु गीता उपनिषद् का अनुसरण कर ब्रह्म को पुरुष और ईश्वर का नाम देती है। गीता के मत से ये तीनों ही शब्द समानार्थ वाचक हैं और केवल नाम के कारण से कोई गोल-माल नहीं है। नाम के साथ तत्व का निगूढ़ संबन्ध है, ब्रह्म, पुरुष, ईश्वर ये सब शब्द एक ही सद्वस्तु के विभिन्न भाव या प्रतिष्ठा का निर्देश करते हैं।

द्वितीय सूत्र में इसे ब्रह्म का लक्षण बताया गया है,

*जन्माद्स्य यतः।*

ब्रह्म से ही इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विनाश होता है।

सांख्य का कहना है कि पुरुष अकर्ता और निष्क्रिय है, प्रकृति ही ने विश्वसृष्टि की है। सांख्य के इस मत का अनुसरण कर वेदान्त कहता है कि ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति है। इस वाक्य से एक ओर तो सांख्य मत का निदर्शन किया गया है, दूसरी ओर ब्रह्म का लक्षण बताया गया है। किंतु उपनिषद् में नाना स्थान में कहा गया है कि ब्रह्म निर्विशेष, निरुपाधि और निर्गुण है। उसका किसी लक्षण द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, केवल 'नेति नेति' द्वारा ही ब्रह्म को समझाया जा सकता है ब्रह्म यह भी नहीं वह भी नहीं, न वह स्थूल है न सूक्ष्म, न दीर्घ न ह्रस्व, न उसका शब्द न रूप, न उसका पूर्व न पर या उसके अन्तर और बाहर और कुछ नहीं है। दूसरी जगह कहा गया है वह वाक्य मन और इन्द्रियों से अतीत है किंतु जब यह कहा गया कि ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति है तब तो 'नेति नेति' होगा नहीं। जब वह मन के अगोचर है तब उसका बुद्धि द्वारा निर्देश कैसे किया गया तो फिर इस बात को कैसे समझा जाय, क्या ब्रह्म एक नहीं दो हैं? एक ब्रह्म अनिर्देश्य, निर्गुण, और दूसरा ब्रह्म निर्देश्य और सगुण और इसी सगुण ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति हुई? किंतु ब्रह्म तो '*एकमेवाद्वितीयम्*' है, एक छोड़ दूसरा नहीं। तब एक ही वस्तु में इस प्रकार विरोधी भाव कैसे हो सकते हैं? ब्रह्मसूत्रकार ने इसका सहज ही उत्तर दिया है, '*श्रुतेस्तु-*

शब्दमूलत्वात्' (२।१।२७), युक्ति तर्क के द्वारा ब्रह्म नहीं जाना जा सकता, श्रुति अर्थात् उपनिषद् ही ब्रह्म विषय में एक मात्र प्रमाण है। जब श्रुति ही ब्रह्म को निर्गुण और सगुण भी कहती है तब इस सम्बन्ध में विचार और वितर्क को स्थान नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शङ्कराचार्य केवल ऐसे उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए। श्रुति को प्रमाण रूप से तो ग्रहण करना होगा किंतु श्रुति ने युक्तितर्क का निषेध तो किया नहीं है। श्रुति में ही आया है–

*श्रोतव्यो मन्तव्यः बृ० उ० ॥२।४।५॥*

यहाँ मनन जो कहा गया है वह अनुमानात्मक विचार से भिन्न नहीं है। अतएव अनुमान वेदान्त सिद्धान्त का अविरोधी हो वेदान्तवाक्यार्थ के ज्ञान को दृढ़ करने के लिए आवश्यक हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार मानसिक युक्ति तर्क की उपयोगिता और प्रमाण मान कर युक्ति द्वारा ही उल्लिखित विरोध की जो मीमांसा की है उसका सार यही है कि ब्रह्म एक ही साथ निर्गुण और सगुण नहीं हो सकता, यह बात युक्ति विरुद्ध है; अथ च श्रुति ब्रह्म को कहीं निर्गुण कहती है और कहीं सगुण बताती है। अतएव ब्रह्म का जो सगुण भाव है वह मिथ्या, माया और अविद्या है। वास्तविक पक्ष में ब्रह्म में कोई गुण कोई लक्षण या विशेष नहीं है, केवल मन बुद्धि के

अज्ञान वा अविद्या से ब्रह्म में ये मालूम होते हैं। ब्रह्म का सगुण-भाव, ईश्वरभाव, जगतसृष्टा-भाव सत्य नहीं, और सगुण ब्रह्म या ईश्वर से यह उत्पन्न जगत् भी सत्य नहीं। यह सब माया है जैसे निद्रित आदमी का स्वप्न।

किन्तु ब्रह्मसूत्र में कहीं भी अविद्या और माया का इस प्रकार वर्णन नहीं मिलता और न कहीं जगत् को स्वप्न की तरह मिथ्या बताया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या या माया के संबन्ध में ऐसी जो धारणा है वह आचार्य शङ्कर की स्वकपोल कल्पित है,* और सूत्रकार के मन में वह कभी आई ही नहीं थी। किंतु ऐसा होने पर भी सगुण और निर्गुण ब्रह्म का समन्वय कैसे किया जाय? सूत्रकार ने इस सम्बन्ध में कोई चेष्टा नहीं की है, केवल श्रुति का प्रमाण देकर वे इतना ही दिखाते है कि ब्रह्म सगुण भी है और ब्रह्म निर्गुण भी है–

*आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२।१।२८॥*

आत्मा एक होते हुए भी उसमें विचित्र दृष्टि दिखाई देती है, श्रुति में ऐसी उक्ति है–

*सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥२।१।३०॥*

श्रुति में यह भी मिलता है कि वह सर्व शक्तिमान् है और इसलिए उससे यह विचित्र सृष्टि का होना सम्भव है।

---

* हम पहले ही कह चुके है कि शङ्कर ने अपने आंशिक अनुभव और बौद्धगणों की "अनित्यता" ( Impermanence ) के आधार पर माया वाद की कल्पना की है।

*सर्व्व धर्मोपपत्तेश्च ॥२।१।३७॥*

जिस कारण से ब्रह्म को जगत् का कारण स्वीकार कर और श्रुति में उल्लिखित सर्वज्ञता सर्व शक्तिमत्ता इत्यादि यावतीय धर्म उसमें बताये गए हैं, उसी कारण से वैदान्तिक मत सर्व प्रकार के सन्देह से अतीत है।

ब्रह्मसूत्र की तरह श्रुति का अनुसरण कर गीता का कहना है कि एक ही ब्रह्म में नाना आपात विरोधी भावों का समावेश है, ब्रह्म सगुण है और निर्गुण भी (गीता १३।१३, १४)। श्रुति का अर्थ लेकर मनुष्य के मन में जो भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है उसको गीता स्वीकार करती है किंतु शङ्कर की तरह तत्त्व निर्णय के विषय में मानसिक अनुमान और युक्ति पर निर्भर रहने को नहीं कहती। समाधि के द्वारा बुद्धि को स्थिर करने पर हमारे भीतर जो ज्ञान दीप जल उठता है, *ज्ञानदीपेण भास्वता*, गीता उसी को सत्यासत्य का चरम प्रमाण मानती है—

*श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।*
*समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२।५३॥*

योग-लब्ध अन्तर्दृष्टि की सहायता से गीता ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म का समन्वय किया है। हम यदि अपनी प्रकृत सत्ता का पता लगाएं तो वेदान्त मत के अनुसार हमको पहले नेति नेति ही कहना पड़ेगा। हम न देह हैं न प्राण हैं न

मन हैं, यहां जो कुछ भी देखा और सुना जाता है, संसार में हमारे भीतर और बाहर जो परिवर्तन का खेल चल रहा है, हम वस्तुतः इन सब से ऊपर अचल, अक्षर, शान्त, नित्य, सनातन, कूटस्थ, सर्वव्यापी आत्मा हैं । इस भाव को लेकर हम अपने ही में नाम रूप से अतीत सत्ता निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यह प्राप्ति अध्यात्म जीवन के लिए एक अवश्य और प्रयोजनीय सोपान है किन्तु हमारे बीच में जो निर्गुण, निर्व्यक्तिक ( impersonal ) अक्षर सत्ता है उसमें हमारी प्रतिष्ठा होने पर भी प्रकृति का खेल बन्द नहीं हो जाता।* हमारे भीतर और बाहर देह, प्राण, मन की क्रिया चलती रहती है, केवल हमारा आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता को प्राप्त कर साक्षि-स्वरूप उदासीनवृत् इस क्रिया को देखता रहता है और अपने को उनसे मिला नहीं देता । इसी भाव से देखने पर जगत् का प्रकृत स्वरूप हमारे सामने प्रगट होता है। जब तक हम अपने देह, प्राण, मन को ही अपनी प्रकृत सत्ता मान लेते हैं और अपने अहं को क्षुद्र सीमा में बद्ध कर उसी को सब कुछ समझते हैं तब तक इस जीवन और जगत् का द्वन्द्व मोह का

---

* यदि शङ्कर मत के अनुसार जगत् मिथ्या माया मात्र होता तो निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होते ही यह माया दूर हो जाती, जगत् लोप हो जाता, शरीर प्राण मन सभी लोप हो जाते। किंतु वस्तुत: ऐसा होता नही। ब्रह्मज्ञान के बाद भी जीवन रहता है- इसी अवस्था को ब्रह्म सूत्र मे जीवन मुक्ति कहा जाता है।

खेल, सुख दुःख के नाम से हमारे निकट प्रतिभात होता रहता है, गीता के मत से यही अज्ञान या माया है। किंतु जब हमको अपनी प्रकृत सत्ता में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब मालूम होता है कि सर्वत्र सर्वव्यापी जो एक अक्षर, अचल, नामरूप के अतीत निर्व्यक्तिक ( impersonal ) आत्मा है हम वस्तुतः वही हैं, *"तत्त्वमसि"*, *"सोऽहम"*, और तब समस्त द्वन्द्व मोह दूर होकर सर्वत्र ऐक्य, शान्ति और आनन्द की लीला हमारे सन्मुख होने लगती है। प्रकृति तब अपने निजी दिव्य स्वरूप को हमारे सामने प्रकाशित करना आरम्भ करती है, क्रम से हमको और भी अनुभव होता है कि यह प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है सर्वव्यापी आत्मा की शक्ति है, आत्मा केवल उपद्रष्टा साक्षीमात्र नहीं है, आत्मा ही ईश्वर है; प्रकृति अपने प्रभु के आनन्द और भोग के लिए इस अनन्त आश्चर्यमय विश्वलीला का विकास करती है। यह प्रभु ही अचल अक्षर आत्म रूप से जगज्जननी की आत्म लीला का दर्शन करने की अनुमति देते हैं, अपने वक्ष पर धारण करते हैं, और वे ही ईश्वर रूप से प्रकृति की समस्त लीला को परिचालित करते हैं, *उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः*।

यही गीता का समन्वय है ब्रह्म निर्गुण है और सगुण भी, क्षर है और अक्षर भी। क्षर रूप सगुण भाव से अपनी प्रकृति को लेकर विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय करते हैं, जन्मादस्य यतः और अक्षर रूप निर्गुण भाव से प्रकृति की लीला से स्वतन्त्र

रह उस लीला को धारण करते हैं, उसका दर्शन करते हैं, उसको अनुमति देते हैं। किंतु लीला में मग्न नहीं होते। क्षर और अक्षर, सगुण और निर्गुण उनके दो भाव ( aspects ) एक साथ ही उनमें स्थान पाते हैं और वे क्षर और अक्षर से अतीत, जगत् से अतीत, विश्वातीत ( transcendent ) अचिन्त्य और अनिर्देश्य हैं । वे क्षर पुरुष से ऊपर हैं और अक्षर पुरुष के भी ऊपर इसीलिए उनको पुरुषोत्तम कहा गया है। यह पुरुषोत्तम ही परमात्मा, परमेश्वर और परब्रह्म है।

## जीव

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय तृतीय पाद में जीवतत्त्व का वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि जन्म, मृत्यु जीव के नहीं हैं, देह के ही जन्म मृत्यु होते हैं—

*नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः* ॥२।३।१७॥

जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं, कारण श्रुति उसकी उत्पत्ति नहीं बतलाती और "*न जायतेम्रियते वा*"* इत्यादि कठ श्वेताश्वतर आदि श्रुति में आत्मा का नित्यत्व और अजत्व कहा गया है। इसी पाद के १९वें सूत्र में कहा गया है—

*उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्* ॥२।३।१९॥

जीव की उत्क्रान्ति अर्थात् देह से प्रयाण, गति अर्थात्

---

*गीता २।२०

परलोक गमन और आगति अर्थात् परलोक से पुनः आगमन ये सब बातें श्रुति ने बताई हैं। ऐसा होने से जीव, विभु या सर्व व्यापी नहीं हैं, अणु परिमाण है। जीव हृदेश में वास करता है, किन्तु जैसे सुगन्धित पदार्थ एक स्थल में रहते हुए भी अपनी सुगंधि चारों ओर फैलाता है वैसे ही जीव का चैतन्य भी सर्व शरीर में व्याप्त रहता है। जीव जब एक देह छोड़ कर दूसरे देह में जाता है तब इस चैतन्य को अपने साथ ले जाता है।

गीता में हम जीव का ऐसा ही वर्णन पाते हैं। श्रुति भी जीव को अणु परिमाण कहती है। ऐसा होने से जीव ब्रह्म से भिन्न हो जाता है। कारण ब्रह्म अणु परिमाण नहीं है न किसी एक स्थान में सीमा बद्ध है और सर्वव्यापी या विभु होने से उसका गमनागमन सम्भव नहीं। किंतु जीव यदि ब्रह्म से भिन्न है तो ब्रह्म *एकमेवाद्वितीयम्* कैसे हुआ ? श्रुति में जीव को "*तत्त्वमसि*" कैसे कहा गया ? सूत्रकार इसके उत्तर में कहते हैं, जीव ब्रह्म का अंश है—

*अंशोनानाव्यपदेशात्* ॥२।३।४३॥

श्रुति वाक्य में जीव और ब्रह्म का भेद प्रदर्शित हुआ है और अभेद भी दिखाया गया है; अतएव जीव और ब्रह्म अंश और अंशी हैं यही उनका सम्बन्ध है। अंश अंशी के साथ अनन्य है—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥२।१।१४॥

किंतु इतने से ही विरोध की मीमांसा नहीं हो जाती। श्रुति का कहना है कि ब्रह्म निरवयव निराकार चैतन्य स्वरूप है; जड़ वस्तु की तरह उसको नाना भाव से विभक्त नहीं किया जा सकता तो फिर ब्रह्म का अंश कैसे हो सकता है ? बादरायण के पक्ष में इसका उत्तर बहुत ही सहज है, श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। श्रुति में प्रमाण मिलता है कि ब्रह्म निरवयव है और श्रुति में ही प्रमाण मिलता है कि जीव ब्रह्म का अंश है, अतएव यहां तर्क को कोई स्थान नहीं।

किंतु शङ्कर ने तर्क के द्वारा ही इस विरोध की मीमांसा करने की चेष्टा की है। वे कहते हैं कि श्रुति के मत से जीव नित्य, उत्पत्ति रहित है अतएव जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं, 'जीवोब्रह्मैवनापरः', जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं। जीव का अणुत्व, अल्पज्ञत्व, अंशत्व, कर्त्तृत्व देखा तो जाता है किंतु यह सब सत्य नहीं है; यह सब माया या अविद्या का कार्य है। जीव अज्ञान के वश अपने को क्षुद्र, अंश परिमाण समझता है। प्रकृत ज्ञान प्राप्त होने से जीव समझ जाता है कि उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं, अभेद है। किंतु इस प्रकार जीव का अंशत्व, अणुत्व और कर्त्तृत्व माया या मिथ्या कह कर उड़ा देने का कोई समर्थन ब्रह्मसूत्र में नहीं मिलता। शङ्कर कहते

हैं कि जीव का कर्तृत्व मिथ्या भ्रम मात्र है। ब्रह्मसूत्रकार स्पष्ट कहते हैं कि जीव का कर्त्तृत्व ब्रह्म से उत्पन्न है—

*परात्तु तच्छ्रुतेः । ॥२।३।४१॥*

सूत्रकार के मत से अग्नि की चिनगारी जैसे अग्नि अंश है जीव भी वैसे ही ब्रह्म का अंश है, चिनगारी और अग्नि अनन्य होते हुए भी उनमें भेद है। फेन और तरंग सब समुद्र के अंश हैं फिर भी फेन और समुद्र एक नहीं है। वैसे ही जीव ब्रह्म का अंश है पर ब्रह्म नहीं है। तो फिर जीव के विभुत्व होने की बात श्रुति में कही है उसका अर्थ यही है कि जीव ज्ञान लाभ करने पर ब्रह्म भाव या विभुत्व को प्राप्त होता है। इसीलिए श्रुति को जीव के ब्रह्म के साथ एक कहा गया है, तत्त्वमसि। शिशु में जैसे पुंस्त्व संभावना रूपसे निहित रहता है जीव में भी ब्रह्मत्व इसी प्रकार निहित रहता है—

*पुंस्त्वादिवत् त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३१॥*

अतएव वादरायण के मत से जीव तो ब्रह्म रूप नहीं किन्तु जीव में ब्रह्म भाव बीज रूप से निहित रहता है। साधना के द्वारा उसका विकाश होता है। जीव विभुत्व, ब्रह्मत्व प्राप्त करता है। तब वह चिर काल के लिए ब्रह्मत्व का भोग करता है।

द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद ४६ और ४७ सूत्र में कहा गया है जीव ब्रह्म का अंश और उसके साथ अनन्य है तथापि जीव सुख दुःख भोग करता है कहने का यह अर्थ नहीं

कि ब्रह्म भी सुख दुःख भोग करता है । जीव ब्रह्म के सहित अनन्य होते हुए भी जीव की अपेक्षा ब्रह्मत्व अधिक निहित है–

*अधिकंतु भेद निर्देशात् ॥२।१।२२॥*

जीव ही अपने कर्म द्वारा सुख दुःख भोग करता है किंतु वे सब ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकते । अतएव यह बात स्पष्ट ही मालूम होती है कि वादरायण के मत से जीव ब्रह्म से भिन्न है और अभिन्न भी है । किंतु इस प्रकार भेदाभेद कैसे संभव है ? वादरायण कहते हैं कि श्रुति ही इसका प्रमाण है शङ्कर कहते अभेद सत्य है भेद मिथ्या माया है ।

यहाँ यह देखना है कि गीता ने इसकी मीमांसा किस प्रकार की है । गीता ने ब्रह्म या आत्मा को नित्य स्थाणु, निरवयव, सर्वगत कह कर स्वीकार किया है, अतएव ब्रह्म के टुकड़े टुकड़े कर भाग नहीं किए जा सकते । अथ च, गीता ब्रह्म सूत्र की तरह जीव को ब्रह्म का अंश बतलाती है, ममैवांशः । जीव का सर्वगत ब्रह्म के साथ मूलतः गीता प्रभेद नहीं करती । जीव जब तक अहंकार के अधीन है तभी तक अपने को क्षुद्र "मैं" कह कर समझता है, किंतु जब ज्ञान हो जाता है तब वह जान लेता है कि उसका आत्मा और सर्वगत ब्रह्म एक ही वस्तु है और तब वह ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्म भूतः । यहां तक तो गीता के मत का शङ्कर के मत से काफी मेल है । किंतु जीव के व्यष्टि स्वरूप को शङ्कर ने मिथ्या, माया, अविद्या बत-

लाया है गीता ने ऐसी बात कहीं नहीं कही । अज्ञान के वश जीव अपने को जिस भाव से देखता है वह मिथ्या है किंतु यह कहने से जीव का व्यक्तित्व या व्यष्टि स्वरूप मिथ्या नहीं हो जाता, परा प्रकृति में जीव का दिव्य व्यष्टि स्वरूप रहता है और अज्ञान में उसका अहंभाव इसी दिव्य व्यष्टित्व की विकृत छाया मात्र है ।

ऐसा होने से गीता की व्याख्यानुसार जीवन अपनी अन्तरतम सत्ता में ब्रह्म के साथ एक है, अभेद है। किन्तु प्रकृति में जीव परा-प्रकृति का अंश मात्र है। भगवान् की परा-प्रकृति ही प्रत्येक जीव का स्वभाव हुई है, जीवभूता, और इस स्वभाव का विकाश ही प्रत्येक जीव की जीवन लीला है । जब तक जीव को अपने इस निगूढ़ स्वभाव का पता नहीं चलता नीचे की विकृत प्रकृति में त्रिगुणमयी अपरा प्रकृति में बद्ध रहता है और तब तक उसके अज्ञान, अहंभाव, वासना, द्वन्द्व दुःख का खेल चलता रहता है। इस नीचे के खेल को छुड़ा कर उठने का उसके स्वभाव का खेल है, परा प्रकृति के खेल का विकाश होता है, तब आत्मा में भगवान के साथ एकत्व प्राप्त करता है और प्रकृति में भगवत् लीला का शुद्ध, बुद्ध रूपान्तरिक आधार हो जाता है। गीता के मत से यही जीव की परम गति है। *मम् साधर्म्यमागताः, मय्येव निवसिष्यसि, मद्भावमागता* इत्यादि वाक्यों के द्वारा इसी दिव्य जीवन का

निर्देश किया है। गीता में भगवान् ने कहा है मेरा ही सनातन अंश जीव लोक में जीव रूप से आविर्भूत होता है (१५ ७)। इससे यह समझा जाता है कि प्रत्येक अपने अध्यात्म सत्य में स्वयं भगवान् ही हैं प्रकृति में उसके द्वारा भगवान् का प्रकाश वस्तुतः चाहे आंशिक ही क्यों न हो। और "सनातन" विशेषण से यह समझ में आता है कि बहु जीव में प्रत्येक जीव एक एक शाश्वत व्यक्ति हैं, *एकमेवाद्वितीयम्* सत्ता की एक एक शाश्वत् अजात अमृत शक्ति है। व्यष्टिगत जीव ऊपर शाश्वत में है और वहां चिरकाल से था क्योंकि वह आपही सनातन है इसीलिए गीता ने कोई ऐसी बात नहीं कही है जिससे पहले ही से यह समझा जाय की सम्पूर्ण भाव से लय होगा, परन्तु गीता ने कहा है कि जीव को परमपद पुरुषोत्तम में वास करना है, निवसिष्यसि मयैव। गीता जब सर्व भूत के एक आत्मा की बात कहती है तब ऐसा जान पड़ता है कि गीता अद्वैतवाद की भाषा का व्यवहार करती है किन्तु दूसरी जगह यह भी कहा गया है कि व्यष्टिगत जीव सनातन है इससे एक "विशेष" आ जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि गीता प्रायः विशिष्टाद्वैतवाद को ही स्वीकार करती है। ऐसा होने पर भी सहसा यह सिद्धान्त मान लेना ठीक नहीं होगा कि केवल यही गीता का दार्शनिक तत्व है और परवर्ती रामानुज मत से उसका ऐक्य है। तथापि इतना तो स्पष्ट है कि एक अद्वितीय भगवत्

सत्ता के बीच एक बहुत्व का तत्व है जो केवल माया नहीं है वह शाश्वत और सत्य है। यह सनातन जीव भागवत् पुरुष होते हुए और कुछ नहीं और वस्तुतः उससे अलग भी नहीं। ईश्वर आप ही अपने एकत्व में अन्तर्निहित शाश्वत बहुत्व के द्वारा हम में अमर आत्मा रूप से चिर विराजमान रहते हैं। रामानुज के मत से मूल भेद यही है कि उन्होंने भगवान् से जीव के पार्थक्य की कल्पना की है। वे कहते हैं चित् स्वरूप जीव नित्य ही ईश्वर से पृथक् है। मुक्त होने पर वह ब्रह्मानन्द का भोग करता है, ब्रह्म नहीं हो जाता। इस साधना में कर्म और ज्ञान विचार आवश्यक हैं सही किन्तु प्रधान उपाय है ध्रुवा स्मृति या भक्ति। किन्तु गीता के मत से प्रत्येक जीव अपने अध्यात्म सत्य में स्वयं भगवान् है। प्रकृति के बीच में उसके द्वारा भगवान् का प्रकाश चाहे जितने अंश में हो। रामानुज का मत सांख्य मत का ही एक प्रकार भेद है। सांख्य के बहु चेतन पुरुष रामानुज के बहु जीव हैं, और सांख्य की तरह रामानुज का कहना है कि प्रकृति वस्तुतः जड़ है अचित् है। सांख्य से उसका भेद केवल यही है कि जीव और प्रकृति के अतिरिक्त वे ईश्वर तत्व स्वीकार करते हैं। ये सब जीव और जड़ जगत् एक ईश्वर में ही रहते हैं और ये सब हैं उसके शरीर, उसके अंग प्रत्यङ्ग और ईश्वर उन सब का आत्म स्वरूप है। अचित् जड़ भोग्य है और चित् जीव भोक्ता है, इनका

परिचालक ईश्वर है ये तीनों मिलकर ब्रह्म होते हैं। चेतन और अचेतन पदार्थ समूह जो ब्रह्म के शरीर हैं तो इन सबको उसका धर्म कहना चाहिए। इसीलिए परब्रह्म निर्गुण नहीं है, सकल गुणों का आकार है। शास्त्र ने परमात्मा को जो निर्गुण कहा है वह केवल हेय गुणों का असद् भाव दिखाने के लिए किन्तु सत्य संकल्प, सत्य काम आदि कल्काणमय सकल गुणों का निषेध नहीं किया गया। यह कल्याणमय सकल गुण असीम, अनन्त, जीव के लिए अपरिमेय है, इन्हीं सब कारणों से निर्गुण कह कर साधारण रीति से उसका वर्णन किया गया है वस्तुतः परमात्मा निर्गुण नहीं है। चित्, अचित् और ईश्वर इन सब के धर्म परस्पर नहीं मिल सकते जिनके द्वारा स्वगत विशेष विशेष भेद युक्त एक मात्र ब्रह्म ही है ऐसा प्रमाणित होता है। रामानुज का यह मत विशिष्टाद्वैतवाद से जाना जाता है। जीव ब्रह्म का शरीर है इसीलिए उसको ब्रह्म का अंश कहा गया है। वस्तुतः जीव कभी ब्रह्म या भगवान् नहीं है। जैसे हाथ पैर मनुष्य के अंग होते हुए भी मनुष्य नहीं हैं। मध्वाचार्य और भी आगे बढ़ कर कहते हैं कि जीव और जगत् भगवान् के शरीर भी नहीं, भगवान् ने उनको बनाया है पर वह सम्पूर्ण रूप से भिन्न और पृथक् वस्तु है और इसीलिए वे भगवान् पर निर्भर हैं। जीव को जो भगवान् का अंश बताया गया है वह केवल उपमा मात्र है, समग्र के साथ अंश का जैसे संबंध

होता है वैसा ही भगवान् के साथ जीव का है अर्थात् भगवान् के साथ जीव का कुछ सादृश्य है और जीव संपूर्ण रूप से ईश्वर के अधीन है। मध्वाचार्य का यह मत द्वैतमत कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैत या द्वैतवाद गीता का मत नहीं है। यह हमने जो कुछ ऊपर कहा है उससे स्पष्ट प्रतीत होगा। गीता के मत से जीव भगवान् से वस्तुतः पृथक् नहीं है। भगवान् एक हैं। वेही बहुरूप ग्रहण कर जीव हुए हैं उनकी अनन्त सत्ता में एकत्व है वैसे बहुत्व भी है। और इस बहुत्व के द्वारा जीव लोक में जीवात्मा रूप से आविर्भूत होते हैं। प्रकृति से शरीर ग्रहण करते हैं और जब इस देह को छोड़ कर दूसरा देह ग्रहण करते हैं तब पंचभूत का देह पंचभूत में मिल जाता है ( गीता १५।७।८ )। और यह प्रकृति भी मूलतः जड़ वा अचित् नहीं है। सांख्य रामानुज और मध्वाचार्य ने जिस प्रकृति को जड़ बताया है वह है त्रिगुणात्मिका प्रकृति, गीता की अपरा प्रकृति। किंतु यह प्रकृति का नीचे का रूप है, गीता इसके ऊपर एक और प्रकृति को बताती है। वह है परमाचित् शक्ति, परा प्रकृति, वस्तुतः जगत् में जड़ वा अचित् जैसा कुछ भी नहीं है, सभी चैतन्यमय सभी वासुदेव हैं। आपाततः जिसको हम जड़ कहते और देखते हैं उसमें भी चैतन्य सुप्त है प्रकश की अपेक्षा करता है। इसीप्रकार जिस प्रकृति को हम जड़ कहते हैं उसी से क्रमविवर्तन द्वारा देह, प्राण, मन का

विकाश हुआ है, जड़ जगत् में क्रमशः सच्चिदानन्द ब्रह्म ही प्रगट होता है।

शङ्कर के मत से ब्रह्म और जीव का अभेद सत्य है और रामानुज और मध्व के मत से भेद सत्य है। आचार्य निम्बार्क कहते हैं कि भेद और अभेद दोनों सत्य हैं; उनके मत से जीव जगत् और यह सब ब्रह्म या भगवान् की शक्ति है, *अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः*। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एक नहीं है अतः यहां द्वैत भाव है और अग्नि को छोड़ कर दाहिका शक्ति में कोई सत्ता ही नहीं है इसप्रकार अद्वैत भाव है। इसीलिए इस मत को द्वैताद्वैत मीमांसा कहा जाता है। शक्तिमान् के साथ शक्ति का भेद अचिन्त्य है और अभेद भी अचिन्त्य है इसलिए इस मत को अचिन्त्य भेदाभेद वाद भी कहा जाता है। चैतन्य चरितामृत से जाना जाता है कि ये अचिन्त्य भेदाभेद वाद श्री कृष्ण चैतन्य महा प्रभु का वैदान्तिक सिद्धांत था। एक सरसरी दृष्टि से देखने से ऐसा जान पड़ता है कि गीता का भी ठीक यही सिद्धांत है क्योंकि गीता भेद अभेद दोनों को स्वीकार करती है। भगवान् और उनकी परमाचित् शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व गीता स्वीकार नहीं करती। गीता के तीन पुरुष हैं एक ही भगवान् की तीन स्थिति या (Status); और गीता की दो प्रकृति हैं एक ही चित् शक्ति के दो रूप परा और अपरा। भगवान् कहते हैं "मेरी प्रकृति", इससे

भगवान् और प्रकृति में भेद किया गया है। सप्तम अध्याय के छठे श्लोक में कहा गया है, '*एतद् योनीनि भूतानि*' यही परा-प्रकृति सर्व भूतों की योनि है इसी श्लोक के द्वितीय पाद में कहा गया है—

*अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा,*

"मैं ही निखिल जगत् का उत्पत्तिस्थल हूँ और मुझमें ही उसका लय होता है। मेरी अपेक्षा उच्चतर और कुछ नहीं है"। अतएव यहां पर परम पुरुष पुरुषोत्तम और परमा प्रकृति को एक ही कर दिया गया है। इससे यह समझा जाता है कि उनके एक ही अद्वितीय सत्य के केवल देखने भर के लिए दो भङ्गी हैं क्योंकि श्रीकृष्ण कहते हैं "मैं ही जगत् की उत्पति का स्थान हूँ और लय का स्थान हूँ" और यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि ये उनकी पराप्रकृति के ही दोनों स्थान है भगवान् अपने अनन्त चैतन्य स्वरूप से ब्रह्म हैं और उस अनन्त चैतन्य में अन्तर्निहित दिव्य इच्छा शक्ति, दिव्य कर्म शक्ति, परा प्रकृति है।

तथापि द्वैताद्वैत या अचिन्त्य भेदाभेद नाम से जो मत प्रचलित है उनसे गीता का विशेष पार्थक्य है। इन मतों में अभेद की अपेक्षा भेद के ऊपर ही विशेष जोर दिया गया है। चैतन्य चरितामृत में शङ्कर के अद्वैतवाद की समालोचना करते हुए कहा गया है—

*"मायाधीश मायावश ईश्वर जीव भेद।*
*हेन जीव ईश्वर सने करह अभेद ?*

*गीताशास्त्रे जीवरूप शक्ति करि माने ।*
*हेन जीवे अभेद कर ईश्वर सने ?"*

और अन्यत्र कहा गया है,

जीव का स्वरूप है नित्य कृष्णदास ।

वस्तुतः नाना वैष्णव सम्प्रदायों में और किसी बातों में भले ही मतभेद हो, भगवान् से ईश्वर का भेद हो, किंतु उन सब की साधारण भित्ति है भगवान् से जीव का भेद सम्बन्ध । एक पुरुष भगवान् और सब जीव उनकी शक्ति; जीव भगवान् की सेवा करे, उनकी भक्ति करे, प्रेम करे यही जीव की साधना है और यही उसकी सिद्धि । गीता ने भी प्रेम और भक्ति को श्रेष्ठ स्थान दिया है किंतु इसकी प्रतिष्ठा अवेध और एकत्व की उपलब्धि पर है—

*सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥६।३१॥*

वैष्णव सिद्धान्त ने जीव को शक्ति कहा है मगर गीता का यह मत नहीं है । गीता के मत से जीव में पुरुष और प्रकृति दोनों ही हैं । पुरुष के हिसाब से जीव भगवान् से एक है और प्रकृति के हिसाब से परा प्रकृति का अंश या आंशिक प्रकाश है । गीता के इस परा प्रकृति के तत्व को लेकर गोलमाल हुआ है । वैष्णव मत से जीव ही परा प्रकृति है और त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति इस जगत् का मूल है किंतु गीता के मत से परा प्रकृति ही जीव नहीं है, परा प्रकृति जीव हुई है, जीव भूताः; परा

प्रकृति जो जीव हुई है यही महान् सत्य है। जीव और जगत् दोनों ही परा प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं–

*एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥७।६॥*

सांख्य के अनुसार त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति को जगत् का मूल कारण समझ कर वैष्णवों ने भी जगत् को दुःखमय देखा और माना है और वैकुण्ठ, गोलक या अध्यात्मिक वृन्दा-वन में परम प्रेमास्पद भगवान् से पूर्ण मिलन के लिए इस संसार और पार्थिव जीवन का परित्याग कर संन्यास को अपरि-हार्य चरम पन्थ कह कर ग्रहण किया है। वस्तुतः सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ऊपर गीता ने जिस सच्चिदानन्दमयी परा प्रकृति को जगत् का कारण बताया है वही गीता का दार्शनिक तत्व-दृष्टि से प्रथम मौलिक सिद्धान्त है। और इसको बिना जाने गीता के दिव्य जन्म और दिव्व कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता।

वैष्णव आचार्यों की तरह शङ्कराचार्य भी गीता की परा-प्रकृति के रहस्य को नहीं समझ पाए। जगत् के मूल में जो भागवती चित् शक्ति रही है उसको स्वीकार कर जगत् को मिथ्या कहना नहीं बन सकता; इसीलिए शङ्कर परा प्रकृति को स्वीकार नहीं कर सकते, कूट व्याख्या द्वारा इसके अस्तित्व को ही उड़ा दिया। शङ्कर के मत से केवल दो अनादि तत्व हैं, सत् ब्रह्म और सदसत् मायाशक्ति। गीता ने जहाँ परा प्रकृति

की बात कही है वहां शङ्कर उसका अर्थ समझे हैं क्षेत्रज्ञ किंतु त्रयोदश अध्याय के वर्णन से स्पष्ट समझा जाता है कि गीता में क्षेत्रज्ञ का मतलब प्रकृति नहीं है परन्तु पुरुष और प्रकृति का भेद कर पुरुष को क्षेत्रज्ञ और प्रकृति को क्षेत्र का नाम दिया गया है, अतएव शङ्कर यहां ठीक उलटा ही अर्थ समझे हैं। हम पहले देख चुके हैं कि शङ्कर अक्षर पुरुष को माया शक्ति बतलाते हैं और सप्तम अध्याय में प्रकृति को माया कहते अतएव वे कहीं तो पुरुष को प्रकृति कहते हैं और कभी प्रकृति को पुरुष बताते हैं। उन्होंने और भी कहा है कि पुरुष और प्रकृति हैं ईश्वर की दो प्रकृति—

*'प्रकृतिं पुरुषं चैव ईश्वरस्य प्रकृति' (१३।१९ भाष्य),*

*'द्वे प्रकृति ईश्वरस्य' (१३।१ भाष्य)।*

गीता ने विशेष विशेष अर्थ में शब्दों का प्रयोग किया है उनकी इस प्रकार जटिल व्याख्या कर शङ्कर ने अपने मायावाद का गीता से समर्थन कर प्रचार किया है। वस्तुतः गीता के अर्थ में कहीं भी इस प्रकार गोलमाल नहीं है, गीता का दार्शनिक तत्व स्पष्ट है, अपना सांप्रदायिक मत स्थापन करने के लिए यदि गीता की व्याख्या न की जाय तो गीता का उदार दार्शनिक तत्व समझने में कुछ कठिनाई न होगी।

# उपसंहार

ब्रह्मसूत्र की व्याख्या को लेकर जो मतवादों की सृष्टि हुई है उनमें प्रधान हैं शङ्कराचार्य का मायावाद, निम्बार्क का भेदाभेद ( द्वैताद्वैत ), रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद और मध्वाचार्य का द्वैतवाद। भारत में इन सब मतों को लेकर शत शत वर्ष से जो वादानुवाद चला है उसमें मानवी बुद्धि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार शक्तिका चरम निदर्शन है। इन सब मत-वादों ने गीता को प्रमाण ग्रंथ मानकर स्वीकार किया है, गीता की व्याख्या द्वारा अपने अपने साम्प्रदायिक मत के स्थापन करने की चेष्टा की है। इसी से यह बात मानी जा सकती है कि गीता किसी संप्रदाय का ग्रन्थ विशेष नहीं है। वस्तुतः गीता में जो उदार समन्वय-मूलक समग्र सत्य विवृत हुआ है उसी के एक न एक पहलू पर भिन्न भिन्न संप्रदायों ने अपने मतलब से ज़ोर दिया है। आज भी भारत में ये सब संप्रदाय वर्तमान हैं और अपने अपने मतानुयायी स्वधर्म प्रणाली का अनुसरण करते हैं और अपने अपने मतवाद का प्रचार करते हैं। वर्तमान समय में शङ्कर के मायावाद का रामकृष्ण-संघ द्वारा विशेष रूप से देश-विदेश में प्रचार किया जाता है। दूसरी ओर श्रीमत् विजयकृष्ण ने अपनी पुस्तक अपराजिता ब्रह्म विद्या में

इस मत के दोषों को बहुत बारीकी से दिखाया है। उनका कहना है कि जैसे रामानुज ने ब्रह्म में चित् अचित् तत्व को स्वीकार कर अद्वैतवाद का खण्डन किया है उसी प्रकार शङ्कर ने सत्ब्रह्म में सदसत् माया शक्ति की कल्पना कर अद्वैतवाद का खण्डन कर दिया है। श्रीमत् विजयकृष्ण का कहना है "आचार्य शङ्कर के मत से अविद्या का नाश होता है, इसे स्वीकार करने से वह विज्ञान और श्रुति दोनों ही के विरुद्ध हो जाता है परन्तु अविद्या को जगत् का कारण बता और उस अविद्या का विनाश स्वीकार कर आचार्य असावधानी से बौद्धवाद को मान गए और सांख्य विभाग के फंदे से अपना उद्धार न कर सके।" श्रीमत् विजय-कृष्ण के मत से अवाङ्गमानसगोचर चित्रसैक्यघन परमात्मा ही एक मात्र हैं और वेही ब्रह्म अर्थात् जगत् के कारण हैं। यही यथार्थ सर्वभेदातीत अद्वैत सिद्धान्त है और वेदान्त का सार उपदेश है।

वेदान्त की ऊपर कई व्याख्याएँ दी गईं। उनमें वैषम्य होते हुए भी एक विषय में पूरा मेल है, और कार्यतः वही मुख्य विषय है। यह जगत् भगवान् की सत्य सृष्टि हो या माया की सृष्टि हो, सबके मत में संसार में जीव का जन्म ग्रहण करना बंधन अवश्य है, उसकी परमावस्था से पतन है, और मानव जीवन का परम लक्ष्य इस जीवन लीला से निकल कर ऊर्ध्व अवस्था में लोट कर जाना है। श्रीमत् विजयकृष्ण

कहते हैं, "जीवत्व का परम निर्वाण ही शिवत्व की परम प्रतिष्ठा है। यह परम निर्वाण या महामुक्ति ब्रह्मवाद का लक्ष्य है।" "वहां केवल निर्वाण का आवाहन और नीरव निस्पन्द में निःशेष निर्धूम का निर्वापन है। पूजा के अन्त में प्रतिमा निरंजन की तरह जीवत्व का भी वहां निरंजन है। यही चरम गति है और यही महा मुक्ति, कर्ममय जीव-जीवन की यही अन्तिम सीमा है।" यदि ऐसा ही हो तो शङ्कर का मायावाद ही अधिकतर युक्ति संगत है,—यह संसार मिथ्या है अतएव इस मिथ्या का नाश करना ही जीव की परम गति है। वस्तुतः इस लक्ष्य को सभी ने ग्रहण किया है कि जगत् और जीवन लीला छोड़ कर ऊर्द्ध परम पद को लाभ करना होगा। यह परम पद क्या है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है इन बातों को लेकर सम्प्रदायों में मतभेद है। शङ्कर का कहना है कि ज्ञान ही एक मार्ग है। रामानुज और अन्य आचार्य कहते हैं कि भक्ति ही मार्ग है, और श्री विजयकृष्ण के मत से इसे प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ मार्ग है ज्ञान और कर्म का समुच्चय।

किन्तु गीता ने इस लक्ष्य को ग्रहण नहीं किया है और वैदान्तिक ग्रन्थ की दृष्टि से यही गीता की प्रधान विशेषता है। जीवत्व के चरम निर्वाण की बात गीता कहीं नहीं कहती। गीता तो केवल भगवान् का साधर्म्य लाभ और उनके बीच में वास करने को कहती है। गीता के मत से जीव के लिए यही

परम गति है। इस जीवन से ऊपर उठने के लिए गीता ज़ोर देती है। परम पद लाभ करने के लिए मनुष्य को इस जीवन लीला को छोड़ना न होगा, इसी पृथ्वी पर, इसी जड़ देह में, *'प्राक्शरीरविमोक्षणात्'* उसको प्राप्त करना होगा; और जब तक मनुष्य यह सिद्धि लाभ नहीं करता तब तक वह चाहे जितने ऊँचे लोक में जाय उसे पुनः पुनः इस पृथ्वी पर आना पड़ेगा—

*आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।*
*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥८।१६॥*

यह संसार अनित्य और दुःखमय हैं। इस दुःखमय संसार में पुनः पुनः बाध्य होकर जन्म लेना बन्द होना चाहिए, यह प्रचलित मत गीता को अग्राह्य नहीं है। गीता की तो पद्धति यह है कि प्रचलित प्रथा और सकल धारणाओं में उनके निगूढ़ अर्थ और उपयोगिता को दिखा देना। संसार के दुःख से जो मुक्ति चाहते हैं गीतोक्त साधना द्वारा वह सम्यक् भाव से मिल सकती है, और जो लोग इस साधना द्वारा भागवत् भाव प्राप्त कर लें उनको अज्ञानी जीव की तरह अवश बाध्य होकर पुनर्जन्म ग्रहण न करना होगा। प्रकृति को जय करने के लिए इस संसार और जीवन लीला को छोड़ कर पुरुष और ब्रह्म में लीन होने का कोई प्रयोजन नहीं है। हमारे भीतर यदि अक्षर पुरुष की साम्य में प्रतिष्ठा हो जाय तो यहां रहते हुए भी सृष्टि या प्रकृति को जय किया जा सकता है—

*इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥५।१९॥*

ब्रह्म निर्वाण ही अगर जीवन का लक्ष्य होता तो उससे पूर्व उसको भागवत् जीवन रूप संसिद्धि प्राप्त करनी होगी, नहीं तो जीव सृष्टि का निगूढ़ लक्ष्य व्यर्थ होगा।

इस संसिद्धि के प्रकृत स्वरूप को गीता ने कहीं भी विशद भाव से स्पष्ट नहीं बताया है, कहीं कहीं उसका इशारा मात्र किया है। गीता शिक्षा का उद्देश्य तो कुरुक्षेत्र के युद्ध में इतना ही था कि पृथ्वी में धर्मराज्य की स्थापना हो। अर्जुन के प्रति भगवान् की अंतिम आज्ञा थी—

*तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभवस्व,*

*जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम् ॥११।३३॥*

"अतएव उठ यश प्राप्त कर, शत्रुओं को जय कर समृद्ध-शाली राज्य का भोग कर" यह समृद्धि केवल बाह्य समृद्धि नहीं है, अन्तर की अध्यात्म समृद्धि है, यह दिव्य जीवन (Kingdom of Heaven) है। मनुष्य को संसार में इस दिव्य अध्यात्म जीवन का विकास करना होगा, दृढ़ संकल्प द्वारा सकल विरुद्ध शक्तियों से लड़कर उनको जीतना होगा, गीता के मत से यही मानव जीवन का प्रकृत लक्ष्य है।

इस जीवन को छोड़ कर जाने की प्रेरणा, शून्य या ब्रह्म में लीन होने की इच्छा सत्य नहीं है। और इस बात का गम्भीर भाव से, अनुभव बहुत अच्छी तरह से आधुनिक युग के लोगों

ने कर लिया है। और इसीलिए मुक्ति और परलोक वाद को वे बड़े सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और धर्म की शिक्षा से इस बात को दूर रखना चाहते हैं। गीता का अर्थ ठीक समझ लेने पर कि गीता ने इसी मनोभाव का समर्थन किया है, अर्जुन को संसार, कर्म-वैराग्य त्याग की प्रेरणा की तीव्र भाव से निन्दा कर गीता की शिक्षा का आरम्भ होता है और उसका शेष पृथ्वी को भोग करने पर होता है, "*भोक्ष्यसेमहीम्*"। उसमें सन्देह नहीं कि हमारा यह वर्तमान मानव जीवन सत्य मिथ्या, सुख दुःख, शुभ अशुभ के द्वन्द्व से पूर्ण हैं और यह सब अविद्या का खेल है। किन्तु यह अविद्या भगवत् विरोधी कोई शक्ति नहीं है, जगत् सृष्टि व्यापार में उसका स्थान है और उपयोगिता भी है। भगवान् की परम चित् शक्ति या परा प्रकृति जो आश्चर्यमय जगत्नाट्य* का अभिनय करती है उसी की अविद्या या अपरा प्रकृति एक यंत्रवत् कौशल, a mechanical device है। इस भेद को न समझ सकने के कारण मायावाद और जगत् से मुक्ति के अध्यात्मिक प्रयास की उत्पत्ति हुई है। परम पुरुष परब्रह्म ने अपनी परा प्रकृति के द्वारा अपने में से ही इस जगत् की सृष्टि की और आप ही जीवरूप से आविर्भूत हो पृथ्वी पर पार्थिव अवस्था में भागवत जीवन के आधार स्वरूप देह, प्राण, मन का विकाश करते हैं।

---

* जगत् नाटच।

*ईशावास्यमिदं सर्वम्*, ये सब भगवान् के वास के ही लिए हैं तो फिर इस देह का जीवन भी भगवान् के वास के लिए है और उसको छोड़ कर जाने की व्यग्रता क्यों हो ?

जीव गभीरतम अज्ञान और अंधकार में पड़ा हुआ है, भगवान् से जितना दूर जा सकता है उतना दूर चला गया है जिससे कि पुनर्मिलन का प्रयास और आनन्द अभूतपूर्व और अपरिमेय हों और यह विच्छेद जड़ शरीर द्वारा हुआ है वही सर्वोपेक्षा उपाय स्वरूप है। इसी जड़ देह के द्वारा पूर्ण पुनर्मिलन करना होगा और तभी इस जगत् सृष्टि का निगूढ़ उद्देश्य सिद्ध होगा। जब तक इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती तब तक जीव देह के जीवन को छोड़ा नहीं जा सकता, पुनः पुनः उसको देह प्राप्त कर जन्म ग्रहण करना होगा। जिस सङ्कल्प को लेकर इस महान् प्रेमाभिसार से जीव आप ही बहिर्गत हुआ है वही सङ्कल्प उसको इस जगत् लीला में बद्ध रखेगा। ऐकान्तिक मुक्ति की इच्छा को बिलकुल छोड़ना ही पड़ेगा और जन्म एक बन्धन है इस भ्रान्ति को दूर करना होगा,*

---

* "The desire of exclusive liberation is the last desire that the soul in its expanding knowledge has to abandon; the delusion that is bound by birth is the last delusion that it has to destroy". Sri Aurobindo.

*विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।*
*अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥*

जीव के प्रगतिशील आत्मा विकाश में विद्या और अविद्या दोनों की उपयोगिता है, दोनों ही की सहायता से मनुष्य मृत्यु को अतिक्रम कर अमृतत्व को प्राप्त करेगी ।

आदर्श क्षत्रिय अर्जुन अपने जीवन के परम क्षण में कठिनतम कर्म समस्या से घबरा गया था और दिव्य गुरु श्रीकृष्ण के शरणापन्न हुआ तब उन्होंने अपने प्रिय सखा और शिष्य को जो दिव्य वाणी सुनाई थी श्रीअरविन्द ने उसका सार मर्म संक्षेप से इस प्रकार कहा है,—"कर्म का रहस्य और समस्त जीवन और संसार का रहस्य एक ही है ; यह संसार प्रकृति का केवल एक यंत्र मात्र नहीं है, कोई एक नियम का चक्र नहीं है, जिसमें जीव एक क्षण के लिए अथवा युग युग के लिए बँधा पड़ा हुआ है । यह तो भगवान् का नित्य प्रगटन है । जीवन केवल जीव ही के लिए नहीं है परन्तु भगवान् के लिए है, और मनुष्य का जीवात्मा भगवान् का सनातन अंश है । कर्म का लक्ष्य है आत्म-संधान, आत्म विकाश, आत्म संसिद्धि; अपने कर्म के बाह्य और दृश्य फल वर्तमान में या भविष्य में मिलने वाले कर्म के केवल प्रकृत लक्ष्य नहीं हो सकते । अध्यात्म प्रकृति और उसकी अभिव्यक्ति में सभी बातों की एक अभ्यन्तरीण नीति है और उसी में कर्म का प्रकृत निहित सत्य

है। मन और उसकी क्रिया में बाह्यरूप से केवल गौण और अपूर्व भाव प्रतिभात होता है और ज्ञान से ढ़का रहता है। अतएव कर्म की श्रेष्ठ निर्दोष और उदारतम नीति यह है कि तुम अपनी उच्चतम सत्ता के सत्य का आविष्कार करो और उसमें वास करो, न कि किसी बाह्य आदर्श व धर्म का अनुकरण करो। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक सभी कर्म अपूर्ण, दुरूह, द्वन्द्वमय और समस्या स्वरूप होंगे। समस्याओं का चरम समाधान तभी होगा, दुरूहता और द्वन्द्व तभी दूर होंगे और तुम्हारे कार्य आत्मोपलब्धि के निश्चित प्रकाश में संसिद्ध हो यथार्थ दिव्य कर्म में तभी परिणित होंगे जब तुम अपने प्रकृत आत्मा का आविष्कार कर उसके प्रकृति और यथार्थ सत्य के अनुसार अपना जीवन यापन करोगे। अतएव अपने आत्मा को जानो, अपने आत्मा को भगवान् समझ कर दूसरों की आत्मा से एक समझो और अपने अन्तःपुरुष को भगवान् का एक अंश मानो। इस ज्ञान को प्राप्त कर जीवन यापन करो, आत्मा में वास करो अपनी परम अध्यात्म प्रकृति में स्थित रहो, भगवान् से युक्त हो और भगवत् सदृश हो जाओ। तुम में जो अद्वि-तीय परम पुरुष रहता है और जो जगत् में अद्वितीय परम पुरुष रहता है पहले उन्हीं के लिए यज्ञ रूप से अपने सकल कर्म का उत्सर्ग करो; अन्त में तुम्हारे सब कर्म, तुम्हारा सब कुछ भगवान् के हाथ में दे डालो, परम विश्वपुरुष तुम्हारे

भीतर रह जगत् में अपनी इच्छा और कर्म सम्पन्न करेंगे। मैं तुमको यही समाधान कराता हूँ और अन्त में तुम स्वयं इसी बात को देखोगे कि इसे छोड़ कर और दूसरा कोई समाधान ही नहीं है।" *श्रीअरविन्द की गीता*

इति